संजीवन

रमाकान्त शुक्ल

प्रकाशक
अंशु प्रकाशन,
उन्नाव

प्रथम संस्करण
अक्षय तृतीया २०२१ वि०
मूल्य दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक
विजयनन्द बाजपेयी
मारतंड प्रेस
उन्नाव

सम्मतियाँ

"श्री रमाकान्त जी शुक्ल का "संजीवन" काव्य प्राचीन पौराणिक काव्य को नवीन युग का संजीवन मिलाकर उसे वर्तमान युग के लिये नवीन मूल्य दे रहा है। शुक्ल जी की प्रच्छन्न प्रतिभा का यह सम्भवतः प्रथम ही प्रस्फुरण है। इनकी भाषा में निखार, प्रवाह तथा लालित्य है। खण्ड काव्य होने पर भी यह एक उच्चकोटि के काव्य के सभी उपादानों से संयुक्त है। कच के व्यक्तित्व में उन्होंने जिस आदर्श को उपस्थित किया है वह इस भौतिक युग के लिये सभी दृष्टियों से वरेण्य है। इस काव्य में अनेक स्थल विशेष भाव सम्पत्ति तथा अर्थ गौरव लेकर अवतीर्ण हुये हैं। कच और देवयानी का भोग सम्बन्धी लक्ष्य के बारे में संवाद भी विचारोत्तेजक है।

मैं शुक्ल जी को उनकी सर्वमुखी सफलता के लिये हार्दिक बधाई देता हूं। मुझे आशा है हिन्दी में यह काव्य अपने लिये सम्मान का स्थान बनाकर लोक प्रिय हो सकेगा।

सुमित्रा नन्दन पन्त

२९-१-६५

●

..........वास्तव में आपकी रचना बड़ी सुन्दर है और इसके लिये आपको बधाई है। कच और देवयानी की शिक्षाप्रद सुन्दर कथा को आपने हम सब के लिये पुनः जागृत कर दिया। इसके लिये अनेक धन्यवाद है।

श्री प्रकाश

२८-१०-६४ भूतपूर्व राज्यपाल महाराष्ट्र

●

प्रोमिथियस मनुष्य जाति के हेतु अग्नि लाने के लिये स्वर्ग गया और वहाँ उसे भयानक कष्ट सहने पड़े। देवगुरु वृहस्पति के पुत्र कच भी मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित करने वाली विद्या का दीक्षा पूर्वक ज्ञान लेने के लिये असुरों के मध्य गये (जब देव और असुरों के बीच युद्ध चल रहा था और देवगण पराजित हो रहे थे) और सफल हुये।

महाभारत में प्राप्त इस कच और देवयानी के आख्यान पर इस संजीवन काव्य की कथा वस्तु आधारित है। कच की आदर्शवादिता, देवयानी का उन्मुक्त प्रेम और फिर निराशा-जन्य वेदना और क्रोध, शुक्राचार्य का मातृ–विरहिता अतिलालिता प्रिय पुत्री के लिये अनावश्यक चिन्ता आदि विषयों का अच्छा निर्वाह किया गया है।

वर्णन पारम्परिक पद्य में किया गया है जिसमें मात्रिक छन्दों का प्रयोग है। यत्र तत्र प्रभावोत्पादकता के लिये चरण छोटे बड़े भी हैं। कहीं कहीं कुछ त्रुटियाँ भी प्राप्य हैं। छन्दों की विविधिता, वर्ण वृत्तों का सभंग–पद प्रयोग और भाव औचित्य के साथ मुक्त प्रयोग काव्य को मनोरंजक बनाते चलते हैं। हिन्दी उच्च संस्कृत गर्भित है जो वर्णय विषय के लिये उचित है तथा आनन्द दायिनी है।

"हिन्दू"

मद्रास २७–१२–६४

"Prometheus went to heaven to bring down fire for ma -—and sufferd terribly for it; Kacha a Son of Deoguru Brahaspti, went down among the Asuras to secure Sanjivani Vidya—the esortic Knowledge of the technique of repeated reviving of the dead (When the Devas and Asuras were at war, and the former were having the worst of it) and succeeded. This is the story in verse form of Sanjivan based on the well Known Kacha Devayani episode in the Mahabharata. The idealism of Kacha, the Uninhibited love of Devayani for him and her agony and rage when disappointed, Shukra Charya's unreasoning Concern for the happiness of a motherless lovable and spoilt daughter are all well handled.

The Narration is in the Conventional verse using Maatric Chhand; here and there the lines are clipped for effect and there are faults too. Metrical variaticns, with a Sprinkling of Varna Vrittas and even free verse where the mood Justifies it would have made for less monotonous reading. The Hindi is highly Sanskritic as is but proper for the theme and is pleasing.

"THE HINDU"

Madras 27—12-64

सञ्जीवन

दो शब्द

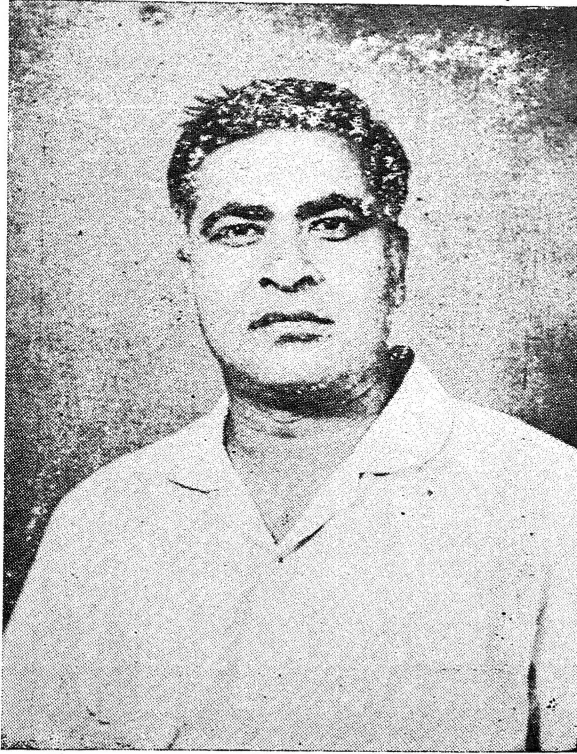
"संजीवन" के लिखने की प्रेरणा बातों बातों में ही मिली । दयानंद सुभाष नेशनल कालेज के प्राध्यापक पं० माताप्रसाद मिश्र के घर में उनकी दी हुई कथा–वस्तु तथा वहीं के प्राध्यापक श्री रायबहादुर पाण्डेय से उत्साह की तीव्रता लेकर लौटा तो तेजी से लिखना प्रारम्भ कर दिया। बस फिर कभी तेज कभी सुस्त चाल से चलते चलते "संजीवन" के पाँच सर्ग पूरे हो चुके थे। प्रकाशन की इच्छा हुई तो दूसरी दिशा से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 'अंशु प्रकाशन' के संचालक श्री सच्चिदानन्द बाजपेयी ने इसे छाप देने का आश्वासन दिया । तैयारियां कुछ होने को थी ही नहीं। काम प्रारम्भ हो गया और श्री विजयनन्द बाजपेयी ने बड़ी लगन और निष्ठा के साथ पुस्तक के छपने में मेरे स्वयं के दायित्वों को निभाया । श्री बाजपेयी का सहयोग यदि इस रूप में न मिला होता तो पुस्तक के छपने में समय और अर्थ का लम्बा व्यय हुआ होता। मेरे अभिन्न मित्र डा० बृजलाल वर्मा डी० ए० वी० कालेज कानपुर के सुझावों से पुस्तक की चारुता में जो सहायता मिली है उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

छठे और सातवें सर्ग तैयार नहीं थे किन्तु उधर इनका लिखना चलता रहा और इधर छपना । इस प्रकार पुस्तक तैयार हुई है। प्रबन्ध-काव्यों में कितनी अभिरुचि लोगों की है यह सर्व विदित है । मेरा भी प्रयत्न कोई अपवाद नहीं हो सकता। यह सब जानते हुये भी एक साहस है "उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।"

पुस्तक के पीछे कोई भी एषणा नहीं है । विशुद्ध स्वचित्तानुरंजन के लिये यह प्रयत्न है। यदि जनमानस को रुचिकर हुआ तो मेरे लिये सौभाग्य की बात होगी नहीं रुचा तो भी मुझे अपनी तुष्टि का एक अवसर मिलता है ।

२५, मोतीनगर,
उन्नाव
अक्षयतृतीया २०२१ वि०

रमाकान्त शुक्ल



रमाकान्त शुक्ल

जन्म तिथि—१५ जून सन् १९२८

जन्म-स्थान—ग्राम पूरनपुर, पो० करबिगवां, जि० कानपुर

शिक्षा—एम० ए० (अंग्रेजी) साहित्य रत्न (हिन्दी)
मध्यमा (गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)

प्रारम्भिक प्रेरणा—पैतृक सुरुचि

रुचि—पत्रकारिता, साहित्य सृजन

विशेष—कतिपय दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक एवं मासिक पत्रों का सम्पादन

परम श्रद्धास्पद राग विराग विरहित सन्तोपम

पूज्यपाद पितृचरण पं० रामाधीन शुक्ल

जन्म—भाद्रपद कृष्ण ३ सं० १९४२ वि०



साहित्यानुशीलन तथा काव्य रसज्ञता जिन पर अजस्र आनन्द वर्षा
कर रही है। जिनसे हिन्दी और संस्कृत की रचनायें सुनकर तथा
जिनके स्वरचित गीतों से प्रभावित होकर कविता की प्रवृत्ति
जागृत हुई। जिन्होंने मेरे नाम से एक गीत लिखकर
बचपन से ही मुझे अपने कवि का ऋणी बना
दिया था उन्हीं के चरणों पर यह
"संजीवन" सादर समर्पित है।

रमाकान्त शुक्ल

उन्नाव

प्रकाशक के शब्द

उन्नाव नगर व जिले के कदाचित् प्रथम प्रयास में इस प्रकाशन का परम सौभाग्य था कवि का यह महत् योगदान। कैसे कृतज्ञता ज्ञापन करूं; आत्म विभोर हूँ, समझ में नहीं आता।

अपनी और अपनों की वस्तु प्रिय होती ही है; पाठकों, विद्वानों, समालोचकों एवं साहित्यिकों के विचार सुन व देखकर ही वास्तविकता का निर्णय किया जा सकता है।

मुद्रण व प्रकाशन की कुछ त्रुटियाँ हैं, समझता हूं; प्रथम प्रयास था, भविष्य में शायद ऐसा न हो। अस्तु:

जो है, जैसा है, प्रस्तुत है।

—सच्चिदानन्द बाजपेयी

सञ्जीवन

(खण्ड काव्य)

कथामुख

वृषपर्वा के राज्य में भृगुवंश के परम तेजस्वी आचार्य शुक्र दानवों के गुरु और संरक्षक के रूप में निवास करते थे। एक बार सम्पूर्ण त्रिलोकी पर ऐश्वर्य स्थापित करने के स्वार्थ से देवों और दैत्यों में भीषण युद्ध हुआ। देवों के गुरु अंगिरा के पुत्र वृहस्पति थे। शुक्राचार्य ने संग्राम में मृत दानवों को अपनी संजीवनी विद्या के द्वारा जीवित कर दिया। यह देख कर देव गण मन में अत्यन्त विषण्ण हुये। उन्होंने अपने गुरु वृहस्पति से जाकर संजीविनी विद्या के प्राप्ति हेतु निवेदन किया। वृहस्पति ने उन्हें जीवन का वास्तविक रहस्य बतला कर अपने पुत्र कच के पास भेज दिया और कहा कि वे इस सम्बन्ध में कच से निवेदन करें। देव गण इन्द्र के साथ कच के पास गये और उनसे आचार्य शुक्र के पास जाकर निवास करने की प्रार्थना की तथा उन्हें यह भी बताया कि वहां पर उनकी पुत्री देवयानी की प्रसन्नता से संजीवन विद्या सुगमता से प्राप्त हो सकती है। कच को यज्ञ में भाग देने का प्रलोभन भी देवों ने दिया। येन केन प्रकारेण कच आचार्य शुक्र के पास जाने को तत्पर हो गये।

शुक्र के पास जाकर कच अपने शील, स्वभाव, दम, संयम से आचार्य को तथा आचार्य पुत्री देवयानी को तुष्ट करने में लग गये। वे निर्विकार और निरहंकार होकर गुरु की सुश्रूषा में रत रहने लगे। तर्क और विचार उनकी बुद्धि को पुष्ट करने लगे।

आश्रम का प्रान्त जो आम्, काञ्चनार, कर्णिकार तथा अन्य गन्धवान् वृक्षों से सुशोभित था, कच के मस्तिस्क में अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करने लगा। देवयानी के सान्निध्य में उनके अन्तरतम में प्रच्छन्न राग उत्पन्न होने लगा। यह रहस्य कच ने देवयानी से बतलाया। देवयानी जो कच के साहचर्य के लिये सदैव उत्सुक रहती थी अपनी सम्पूर्ण तर्क बुद्धि

से भोगों को शाश्वत और अनिवार्य सिद्ध करने की चेष्टा करने लगी। कच भी उसे तुष्ट करने लिये पुष्प फल मूलों के उपहार नित्य प्रति अर्पित करते थे। कच के संयम प्रधान जीवन में देवयानी का प्रवेश न हो सका। वे 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' की स्थिति में वहाँ रहते थे। देवयानी के सारे तर्क कच में भोगात्मक प्रवृत्तियों को जागृत नहीं कर सके। कच ने देवयानी के तर्कों का समुचित उत्तर दिया।

व्रत पालन करते करते समय व्यतीत हो रहा था। दैत्यों को ज्ञात हुआ कि कच आचार्य के पास से संजीवन विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने के लिये आये हुये हैं। यह ज्ञात कर उन्हें अत्यन्त क्रोध हुआ। उन लोगों ने एक दिन वन में कच का वध करके उसके मांस को श्रृगालों में बाँट दिया। जब कच के वापस आने में विलम्ब हुआ तो देवयानी चिन्तित हो गई और अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय भर गया। आचार्य से जाकर अपनी दुश्चिन्ता कही। पितृ हृदय द्रवित हो गया। आचार्य ने अन्तश्चिन्तन द्वारा देखा कि कच का मांस श्रृगालों के उदर में पक रहा है। उन्होंने तत्काल संजीवन का प्रयोग किया और अनतिकाल में कच का स्वस्थ शरीर आविर्भूत हो गया।

एक दिन कच पुनः पुष्पादि के लिये वन में गये। वहाँ पर कुछ दानवों ने उन्हें देख लिया और पुनः उनका वध कर डाला, उनके शरीर के खण्ड करके समुद्र में फेंक दिया। देवयानी की प्रार्थना पर आचार्य ने कच को पुनः जीवित किया।

अन्ततोगत्वा दैत्यों ने कच को तीसरी बार मार कर उनको छार कर डाला। मदिरा में कच के शरीर की छार मिलाकर दैत्यों ने आचार्य को पिला दिया। देवयानी कच की अनुपस्थिति में पुनः चिन्ताकुल हो उठी। पिता से उसने अपनी दुश्चिन्ता व्यक्त की तो उन्होंने उसे धैर्य देते हुये शान्त होने का आग्रह किया। उन्होंने कहा कि तुम्हें चिन्तित न होना चाहिये तुम देव दानव यक्ष किन्नर अश्विनीकुमार आदि सभी से सम्मानित हो अतः तुम्हारा कच के प्रति व्यामोह उचित नहीं है। किन्तु देवयानी का आग्रह कच के लिये बढ़ता गया और अन्त में आचार्य ने उसे जीवित करने का आश्वासन दिया।

कच की तपश्चर्या के ५०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे और यह समय था जब कच को संजीवन की शिक्षा पूर्ण होने को थी । शुक्राचार्य ने देखा कि इस बार दैत्यों ने कच को क्षार करके उन्हीं को पिला दिया है। उन्होंने कच को उदर में ही संजीवन का रहस्य बतलाया और कच को जीवित कर दिया । आचार्य का उदर विदीर्ण करके कच बाहर आ गये और पुन: संजीवन का प्रयोग करके आचार्य को जीवित कर दिया।

मदिरा पान से विवेक शून्य होकर आचार्य ने अपने शिष्य की छार को पी लिया था। अत: मदिरा के प्रति उनके मन में तीव्र घृणा उत्पन्न हुई । उन्होंने दैत्यों के समक्ष मदिरा को अभिशप्त किया और कहा कि आज से जो मदिरा पान करेगा उसे ब्रह्म हत्या का पातक लगेगा । उन्होंने दैत्यों की भर्त्सना की । अन्त में वृषपर्वा के आत्म निवेदन करने पर आचार्य संतुष्ट हो गये । आचार्य ने कच को देव पुरी जाने के लिये अनुमत किया।

प्रस्थान के समय देवयानी ने कच से कहा : अङ्गिरा के पौत्र! सदाचार दम और अभिजात्य से आप शुशोभित हो रहे हैं । आपके प्रति मैंने सद्व्यवहार किया है। आप मेरे प्रणय निवेदन को स्वीकार करें और मुझे पत्नी रूप में ग्रहण करें । कच ने उत्तर दिया भद्रे तुम मेरी पूज्या हो अत: यह प्रस्ताव मुझे कैसे मान्य हो सकता है ? तुम मुझे गुरु से भी अधिक पूज्या हो। तुम मुझे आशीष दो मेरी यात्रा मंगलमय हो।

देवयानी बोली :—मैंने धर्मानुकूल काम के लिये तुमसे प्रार्थना की है। यदि तुम्हें अस्वीकार है तो तुम्हारी संजीविनी विद्या असिद्ध हो जाय यह मेरा शाप है।

देवयानी से कच ने कहा :—तुम्हारे अन्दर दोषों को देख कर नहीं अपितु, गुरु पुत्री मान कर मैंने तुम्हें पत्नी रूप में ग्रहण करना अस्वीकार किया है मैं यहाँ पर आर्ष धर्म का निर्वाह कर रहा था । शाप देने योग्य मैं कदापि नहीं था। तुमने रोष बश मुझे शाप दिया है अत: तुम्हारी कामना पूरी न होगी। तुम्हें कोई भी ब्राह्मण कुमार वरण नहीं करेगा । मैं स्वयं यदि सफल न होऊंगा तो मैं जिसे शिक्षित कर दूंगा वह तो इस विद्या में सफल होगा।

यह कहकर कच देव पुरी को प्रस्थान कर गये।

प्रेरणा

(१)

श्री जिसका कण्ठाभरण गिरा जिह्वा बनी
पृथ्वी जल मरुदाकाश तेज उपकरण हैं
जो प्राणों में बनकर छाई है जिजीविषा
उस संजीवनी जगद्धात्री की शरण हैं ।

सुर असुरों में चल रहा समर था रोष से
असुरों की विजय सुनिश्चित होती ज्ञात थी
लड़ते बीते थे वर्ष सहस्रों युद्ध में
देवों की सेना श्रान्त प्रकम्पित गात थी ।

जो सुख वैभव में सुरा सुन्दरी भोगते
वे सहते कब तक कष्ट महा संग्राम के ?
कब तक महेन्द्र के वैभव के उद्देश्य से
वे लड़ सकते थे छोड़ सौख्य निज धाम के ।

लड़ते थे देव कि अखिल त्रिलोकी पर सदा
ऐश्वर्य रहे स्थापित पुरुहूत पुरन्दर का
असुरों का था मन्तव्य कि सुख सामग्रियां
हों प्राप्य सभी को मार्ग एक था संगर का ।

थी प्रतिक्रिया मन में कि देवगण सर्वदा
करते आये हैं छद्म स्वार्थ की पूर्ति में
कितनी संचित हैं असंतोष्य अभिलाषायें
ऊपर से लगती सौम्य साधु सी मूर्ति में ।

वे दैत्य सुरों के वैमात्रिक सद्बन्धु थे
उत्पीड़ित थे देवों के छल व्यवहार में
कब तक चल सकती कपट-श्वेत-वक भक्ति वह
घड़ियालों के भूखे उजड़े आगार में ।

भर गई अनेकों बार रुधिर से स्वर्गङ्गा
लुट गये रत्न छिन गईं सुरों की ललनायें
कट गये अनेकों पारिजात नन्दन वन के
बस बस कर अमरावती सैकड़ों जल जायें ।

होते थे नहीं पराजित दानव किसी भांति
देवों का मन लगता था लड़ने में नहीं
था एक वुभुक्षित और दूसरा भोग लीन
समता उद्देश्यों की थी, लड़ने में नहीं ।

अन्ततः देवगण खिन्न मनस्क हुये सभी
फिर सोचा कारण जो था अपनी हार का
दैत्यों के गुरु आचार्य शुक्र थे जानते
संजीवन विद्या, जो विरोध संहार का ।

लेकर सुरेन्द्र को देव गये गुरु देव तक
बोले, "श्रीमन् ! यह कैसा गुरु-उपहास है,
क्या देव नहीं जीवित कर सकते मृत सैनिक ?
यह मंत्र प्रक्रिया कैसी भृगु के पास है ?

हम देवों से क्या श्रेष्ठ विश्व में अन्य जाति ?
हम अप्रतिरुद्ध शक्ति के चिर भोगी विश्रुत
जल अग्नि अन्न फल मूल दिया करते सबको
भरने को पञ्चप्राण चला करते मारुत ।

ऐश्वर्य हमारा संरक्षित सब जीवों पर
प्राणी प्रत्येक हमारा ही है आराधक
हम पुरोडाश शाकल्य हव्य पाते आये
हो सका आज तक कोई नहीं कभी बाधक।

हम मरुत्वान् मघवान् विडौजा कहलाये
हम वृद्ध–श्रवा सुरेन्द्र पाक शासन भी हैं
हम अग्नि वरुण यमराज कुवेराधिपति बने
प्राणी में भरी प्रतिष्ठायें शासन की हैं।

हम अशनि वज्र दम्भोलि तड़ित् के अस्त्र-शस्त्र
करके प्रयोग जीवों पर अनुशासन रखते
मर्यादा की रेखाओं के प्रहरी हम हैं
हम संसृति की सब परम्परा पावन रखते।

मानव यक्षों गंधर्व रक्ष किन्नर पिशाच
वेताल प्रेत पुरियों के हम संरक्षक हैं
पशुपति धनपति गिरपति जिसके हैं अंग सदा
जिसके सिंहासन की सेवा में तक्षक हैं।

हे देव गुरो ! हे वृहस्पते ! कैसी निष्कृति !
हम दैत्यों से कब तक लड़-लड़कर हारेंगें ?
संजीवन मंत्र बिना देवों का त्राण नहीं
कब तक मरकर जीने वालों को मारेंगे ?"

जग पड़े योग निद्रा से सहसा विवुध बन्द्य
खुल गये नेत्र पीताभ शान्त ज्वाला दहकी
हिल गये पिशङ्गी जटा जूट मस्तक ऊपर
नन्दन बन की मन्दार धवल कलियां महकीं।

"सुनलो सुरेन्द्र यह देह प्रकृति से नश्वर है
कोई संजीवन मंत्र न कर सकता शाश्वत्
माया मेरे मन को यह कभी नहीं भाई
मैंने माना यह कला सदा ही कौतुकवत् ।

मैंने शरीर को जीवित करना चहा नहीं
मेरे विकास का क्षेत्र सूक्ष्म ही सदा रहा
मैंने तत्वों के ऊपर अनुसन्धान किया
भूमा का चिन्तन मनन एक ही विषय रहा ।

भार्गव की संजीविनी कला आश्चर्य जनक
पर मेरी उसमें आस्था किञ्चिन्मात्र नहीं
दैहिक बल पर विश्वास करे जो परम्परा
माना मैंने अपने को उसका पात्र नहीं ।

अमरत्व देह का संजीवन ! मिथ्या विचार
अमरत्व ! तुम्हारी यही भोग लिप्सा ! भ्रम है
अमरत्व उच्च से उच्च कोटियां आत्मा की
अमरत्व अन्त में विश्वात्मा का संगम है ।

पृथ्वी का उत्कट गंध वायु की शोषकता
दाहकता भरता अनल रिक्तता महाकाश
जल का विगलन इन्द्रियज विकारों का मन्थन
ऐसे शरीर का नहीं चाहते तुम विनाश ?

रण प्राङ्गण ही है क्षेत्र एक ऐसा अद्भुत
जिसमें मानस की सूक्ष्म वासना सो जातीं
मर कर सद्गति होती है वीरों की निश्चित
कर्मों की आवागमन वृत्तियां खो जातीं ।

आहव में मृत उनका शारीरिक संजीवन !
निर्मोक सदृश उत्सर्ग किये जो मांस चर्म
उन युयुधानों के साथ अहो अन्याय घोर !
वर्जन करता सुरराज हमारा ब्राह्म धर्म ।

अभिमान दर्प स्वार्थों से जिनकी मलिन बुद्धि
जिनकी इच्छा पर कोटि-कोटि मर जाते हैं
फिर जीवित रख कर उन्हें लड़ाने की तृष्णा !
देखो यह कब तक शासित सहते जाते हैं ।

संग्राम न्याय के तिरस्कार से होते हैं
रण की भेरी आहत हृदयों की पीड़ा है
असिधारों पर चमचम ~~तलवारों~~ अपमानों की लपटें
रण स्वाभिमान के शिशु की पावन क्रीड़ा है ।

संसार सृष्टि का स्रोत न उसमें विष घोलो
अन्यथा द्वेष्य मालिन्य कुपित हो जायेंगे
इनकी ज्वाला को पी न सकेगा शिवशंकर
सद्भावों के उगते अंकुर जल जायेंगे ।

करुणा अनुकम्पा से मिश्रित सौहार्द जगे
जीवों के प्रति उपकार, यही संजीवन है
संस्मरण प्रेम से करें उसे जो चला गया
बस यही आत्म संवेदन नूतन जीवन है ।

मेरे औरस कच से साहाय्य प्राप्त होगा
मैं ब्रह्माण्डों की छटा देखने जाता हूं
निःश्रेयस् तुमको मिले, धर्म में तत्पर हो
संजीवन का यह मंत्र बताये जाता हूं ।"

लौटे निराश सुरराज सुरों के साथ शान्त
आये कच के समीप, बोले मैत्रीस्वर में
"आङ्गिरस् ! कार्य देवों का तुमसे होना है
मेरे केवल साहाय्य तुम्हीं देवों भर में ।

आचार्य शुक्र के पास रहो कुछ काल मित्र
निज नाम गोत्र परिवर्तित कर सेवा रत हो
सीखो संजीवन मंत्र देव गण के हितार्थ
देवों के लिये पिता से ऐसा अनुमत हो ।"

"सुरराज समर्पित है शरीर देवों के हित
पर कार्य न मुझसे ऐसा मिथ्या होवेगा
गुरु से ले विद्या दान उन्हीं से छद्म करूं
उपकार आत्मघाती यह कभी न होवेगा ।

आचार्य भार्गव जो हैं मेरे पितृ-तुल्य
स्वीकार कर चुके हैं प्रति पक्षी का गुरुत्व
उनका बन जाऊं शिष्य तुम्हारे वैभव हित
इससे सहमत है नहीं हमारा आत्म स्वत्व ।

जिनके आचरण सदा से निन्द्य रहे होवें
जिनके कर्मों से सज्जीवों का प्रेम नहीं
उन दैत्यों के पुर में चाहे जो मिलता हो
मेरी गणना में मिट्टी है वह हेम नहीं ।

अतएव उपेक्षा देवगणों की स्वीकृत है
पर असुरों का तो स्नेह चाहिये कभी नहीं
जिसमें चारित्र्य नष्ट होता हो जीवन का
ऐसी तो मुझसे कभी साधना सधी नहीं ।"

बोले सब देव एक स्वर में संयत होकर
"गुरु पुत्र ! तुम्हारे सत्य प्रेम से परिचित हैं
जिस भांति बने यह कार्य तुम्हीं से होना है
हम सबकी सेवायें श्रद्धा से अर्पित हैं।

यह कार्य देव सेना का परम अभीप्सित है
कच ! तुम्हें छोड़कर अन्य नहीं कर पायेगा
वय, विद्या, बुद्धि, विवेक, दमन की शक्ति तुम्हें
जो प्राप्त दूसरा अन्य कहां से पायेगा।

चारित्र्य, सत्य की रक्षा करते हुये सदा
उपलब्ध हो सकेगा संजीवन मंत्र तुम्हें
निजता का यह बलिदान अनेकों के हित में
देगा यज्ञों में भाग और सम्मान तुम्हें।

कितना भी मनका क्षोभ तुम्हें सहना पड़े
पर लोक हेतु यह कार्य करो स्वीकार देव
कितना भी कष्ट असुरपुर में होवे तुमको
जीवन विद्या को करलो अंगीकार देव।"

"स्वीकृत है शत शत बार" हृष्ट कच ने कहा
"देवों की सेना हेतु सभी स्वीकार है
सद्धर्म सदा अक्षुण्ण हमारा बना रहे
फिर कोटि विजय के तुल्य व्यक्ति की हार है"

देवों से ले आशीष् यथाविधि अनुमत हो
माता से जाकर किया पुनः साक्षात्कार
जननी की वत्सलता उमड़ाई नयनों में
कच को आलिंगित करके बोलीं इस प्रकार।

''वृष पर्वा से शासित नगरी में जावोगे
हे वत्स ! वही दैत्यों का मुक्त विहार स्थल
मद मत्सर लोभ मोह संमिश्रित काम क्रोध
की झंझा से आहत हो गिरते जहां सबल ।

प्रतिपल रहकर सक्रिय, मनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म
गतियों पर सतत नियन्त्रण रखकर, सावधान
शिक्षा का रख ऐकान्तिक, अपना ध्येय पुत्र
गुरु के समीप जावो तजकर निज ज्ञान-मान ।

सेवा हित तत्पर रहकर, गुरु का मान करो
उनका ही मनःप्रसादन मानो सफल ज्ञान
गुरु की ही तुष्टि, पुष्टि देती शिक्षार्थी को
होते हैं उसके तभी सफल विज्ञान-दान ।

गुरु के आश्रम में उनके जो भी परिजन हों
उनके प्रति सेवा भाव नम्रता भाव रहे
जो आयु वृद्ध हैं उनके प्रति आदर देना
जिससे सर्वत्र तुम्हारे प्रति सद्भाव रहे ।

सदसद् का सदा विवेक, बुद्धि का संवल हो
जो असद् वस्तु है उसके प्रति हो तिरस्कार
साफल्य तुम्हारी विद्या का है तभी पुत्र
चारित्र्य सदा सर्वोपरि तुममें हो उदार ।

देवों दनुजों के लिये हृदय में समता हो
है एक नीच दूसरा श्रेष्ठ यह भाव मिटे
सबके प्रति दया क्षमा का श्रेष्ठ धर्म मानों
अपरों की अहित भावना का दुर्भाव मिटे ।

श्रद्धा हो सर्व प्रथम गुरु के प्रति अर्पण हो
मन वचन कर्म से शान्ति व्यवस्था के साधक
बनकर पक्षापक्षों से रखकर मुक्त हृदय
शिष्यत्व भाव से पृच्छा के हो आराधक ।

विद्या का पहला लाभ मुक्ति विषयों से हो
जीवन क्रम के ही साथ श्रेष्ठता बढ़ी चले
जैसे-जैसे शरीर पर वय का भार बढ़े
वैसे ही भौतिक जड़ता का पाषाण गले ।

जावो, सत्वर फलवती तुम्हारी चेष्टा हो
दुश्चिन्ताओं से मातृ-हृदय को शीघ्र मुक्त करना
उद्देश्य सिद्ध हो, जन हित हेतु समर्पण हो
जीवों के संसृति जन्य दैन्य भय को हरना ।"

बल विद्या में कितना ही पुष्ट पुत्र होवे
माता उसको भी अल्प वयस्क जानती है
यह मोह कुक्षि–गत अन्तर्भाव जनित सा है
जननी स्वभाव से सुत को सद्य प्रसूत मानती है ।

जितने सम्बन्ध विश्व में कोमल कोमलतर
सबमें मातृत्व भावना का स्वर बजता है
जितने हृदयों में स्नेह भरा है अपरों का
उनमें यह विश्व जनीन भाव ही सजता है ।

जो कारण रहित प्रेम जीवों पर ईश्वर का
उसकी समता में माता का वात्सल्य एक
इस लिये सदा से मातृ प्रेम की वेदी पर
जलती आई आदर्शों की समिधा अनेक ।

इन्द्रिय अश्वों की कसकर मनसे रज्जु रश्मि
अनुशासन आत्म दमन के रथ पर हो सवार
चिन्तावधानता के ले कशा करों में दो
प्रस्थान किया कच ने सबको कर नमस्कार ।

कुछ क्षण के लिये हुआ बोझिल मन अंतर में
फिर शान्त सहज विज्ञान विराग युक्त छाया
जो जान चुके हैं जीवों का रचना रहस्य
उनको छू सकती कब आसक्ति जनित माया ?

उरमें तीव्रता बढ़ी फिर निज उद्देश्यों की
सीमा आ पहुंची दिति पुत्रों के राज्य की
आश्चर्य चकित कच गये आत्म विस्मृत से हो
देखा प्रधान नगरी वृषपर्वा के साम्राज्य की ।

वैदूर्य भित्तियां चमकीं ज्यों मार्जार नयन
मरकत हीरक से जटित स्वर्ण मन्दिर चमके
चमके नव महा-मार्ग अतिशय प्रशस्त
प्रासादों के अभ्रंकष तड़ित् शिखर चमके ।

चमके प्रलम्ब ध्वजदण्ड, पताकायें लहरीं
चमके स्वर्णिमतोरण, रथ-चक्र घर घराये
चमके असि खड्ग महावीरों के क्रीडागारों से
चमके नव कलश रजत धारा से नहलाये ।

फल फूलों से सुरभित उद्यान चर्तुदिक् थे
पुर था अदेव मातृक स्वाधीन व्यवस्था थी
दिनकर की किरणें ताप नहीं दे सकती थीं
ऐसी उदार जन जन के हेतु व्यवस्था थी ।

मंगल तो रणसा लटक रहा था इन्द्रधनुष
मेघों का मन्द्र स्वर वाद्यों सा बजता था
ज्योत्स्ना परिधान, त्रिपुण्ड, दुग्ध तारा पथ था
साम्राज्य सजा नूतन वर जैसा लगता था।

रहने को यहां वसन्त विवश था सभी समय
रक्तिम किशलय थे कहीं-कहीं फलवान् विटप
सुमनों से प्रति मन्दिर सुरभित था, धवल कमल
भ्रमरों पर करके छांह दूर करते आतप।

"अंगिरा पौत्र हूं पुत्र वृहस्पति का भगवन्
श्री चरणों पर कच का साष्टाङ्ग प्रणाम प्रभो
आया हूं शिष्य भाव से शिक्षा लेने को
स्वीकार करो सेवा श्रद्धा सम्मान प्रभो!

यद्यपि मैं सुरपुर का वासी, सुरहित चिन्तक
फिर भी विद्या का दान मुझे देकर श्रीमन्
करिये कृतार्थ दे जीव लोक में यशोधर्म
हूं शरण देव! हे विश्व वन्द्य! त्रिभुवन मंडन!

"षट् कर्मों में विप्रों के विद्या दान श्रेष्ठ
तिस पर भी जो हैं देव लोक के अधिवासी
उनके छलछिद्रों से संसार त्रस्त रहता
कैसे मानूं उनको अपना अन्तेवासी!

हे कच! तथापि तुम परम्परा से अभिजातक
ऋषियों के उज्ज्वल तपःपूत अन्वय के हो
स्वीकार अतः तुमको करने में तोष मुझे
यदि कपट भाव तज विद्या लेने आये हो।"

"भ्रम विजयी होगा कब तक जीवन के ऊपर ?
आचार्य ! महर्षे ! अर्पित करता हूं जीवन
छल छद्म घृणित पाखण्डों से ऊपर रखकर
करदो विशुद्ध हे देव ! हमारा अन्तर्मन ।"

"स्वीकृत करता हूं कच तुमको अन्तेवासी
आश्रम में रहकर मनके प्रथम नियन्त्रक हो
जीवन को परिणत करदो तप स्वाध्यायों में
फिर पृच्छा से विद्या पाने को अधिकृत हो ।"



तर्क
(२)

रम्य आश्रम की शाला मध्य
मेध्य रुरु कृष्ण चर्म आसीन
विरत, जीवन के वैभव बीच
देह से क्षीण ज्ञान से पीन ।

जिन्होंने लक्ष्मी पति के कृपण
वक्ष पर दिया चरण गम्भीर
उन्हीं की मान महत्ता लिये
और उनका गौरव सशरीर ।

शान्त भार्गव की मुद्रा मधुर
भर रही थी लोकोत्तर शान्ति
कलेवर का अवदात प्रकाश
दे रहा नील व्योम की कान्ति ।

यज्ञ के कृष्ण वर्त्म सा पूत
जीव के जीवन का सर्वस्व
भाल पर दीप्तमान था ओज
जल रहा सुखद ब्रह्म वर्चस्व ।

दृष्टि पथ में पड़ते जो विश्व
उन्हें देकर गौरव सम्मान
ज्ञान की गुरुता से संयुक्त
कर रहे थे दे जीवन दान ।

नभो—मण्डल पथ के चिर पथिक
सृष्टि के तत्वज्ञों में गण्य
सतत निष्काम कर्म का यज्ञ
चलाते सर्व काल कर्मण्य ।

जगत् के पाप पूर्ण जो तंत्र
कर रहे जो जीवों को त्रस्त
दिखाकर ब्रह्मास्त्रों की झलक
उन्हें हंस कर करते थे ध्वस्त ।

हिंसकों से हिंसा की वृत्ति
दूर करने में सर्व — समर्थ
ब्राह्म विधियों से करते दूर
जीव लोकों के महा अनर्थ ।

कभी जीवों के प्रति, उपकार
भावना से रच रक्त स्नान
युद्ध की भीषण ज्वाला जला
पूत करते जन जन के प्राण ।

शस्त्र शास्त्रों में जो निष्णात
उन्हीं की परम्परा के मित्र
भार्गव देते थे उपदेश
शिष्य वर्गों को परम विचित्र ।

देव यानी शिष्यों के मध्य
सुना करती थी तर्क वितर्क
पिता भृगु से पाती थी स्नेह
और नव प्रज्ञा का सम्पर्क ।

वयस्का थी नव यौवन वती
अनिर्वचनीय मिला सौन्दर्य
भद्र जन उचित शिष्ट—व्यवहार
भर रहा जीवन में माधुर्य ।

स्रजन के तत्वों के साकार
भरे थे उर में रूप उदार
प्रणय के उद्वेलित उद्‌गार
शान्त सोये थे निजमें हार ।

वाटिका की सी चम्पक कली
वायु में देती सुरभि बिखेर
मानिनी, मन का रखती मान
हठीले भ्रमरों से मुंह फेर ।

मुकुल सी बन पाटल की डाल
अनिल के झोंकों से आक्रान्त
छिपाये कुछ अन्तर की बात
हास से भर देती वन—प्रान्त ।

कली सी सरसिज की सुकुमार
सरस सौरभ का देती दान
तर्क के शुष्क क्षेत्र में बही
दया की स्रोतस्विनी समान ।

मिला जबसे कच का सामीप्य
हृदय में रहती अधिक प्रसन्न
यथा दुष्कर तप के पश्चात्
सफलता का क्षण हो आसन्न ।

नित्य बन—चर्या से कच लौट
पुष्प फल मूलों के उपहार
देव यानी को . देकर हृष्ट
रहा करते तज मनो विकार ।

एक दिन सुख पूर्वक आसीन
भार्गव करते थे उपदेश
देवयानी, शिष्यों के साथ
शान्त कच सुनते थे संदेश ।

"कर्म की कोई प्रेरक शक्ति
बुन रही जो संसृति का जाल
उसे हम आदि शक्ति से जोड़
बना लेते मन का भ्रम जाल ।

कर्म में हम हैं परम स्वतंत्र
प्रेरणा, मन प्रज्ञा का योग
फलाकाङ्क्षा उसका आधार
किन्तु विपरीत कह रहे लोग ।

फलाकाङ्क्षा से करके भिन्न
कर्म का रहा नहीं अस्तित्व
नियोजित हो न सकेगा विश्व
नियंत्रित होगा नहीं कृतित्व ।

अग्नि का प्रज्वालन इस लिये
कि होगा ताप दाह सुप्रकाश
गरल का पान एक इस लिये
देह से होगा जीवन नाश ।

कर्म फल का नैतियक संयोग
ज्ञान उसका सर्वथा सुकृत्य
यही जीवन का है गति मूल
यही कर्मो का पहला सत्य ।"

कहा कच ने होकर कर – वद्ध
"प्रभो फल कैसे कर्माधीन
कहीं मिलते विपरीत प्रमाण
कर्म जाते निश्चित फलहीन ।

ज्ञात होता तब जैसे यहां
एक कोई वल है दुष्तीर्य
न उसका उल्लंघन हो सके
न उसका थाह सके गाम्भीर्य ।

उसीकी सत्ता के अनुकूल
कर्म का मिलता है फलभोग
कभी विपरीत कभी अति-प्रचुर
यही हैं आध्यात्मिक संयोग ।"

विहंस कर फिर बोले आचार्य
तुम्हारी यह शंका है सत्य
किन्तु इन संयोगों से नहीं
मान लेते आध्यात्मिक तथ्य ।

अग्नि का फल है दहन प्रकाश
और जब हो इसके विपरीत
अग्नि का वह न वास्तविक रूप,
जहाँ फल हो न प्रथम अनुमीत ।

शक्ति जिसको तुम कहते एक
सदा से वह व्यापक सर्वत्र
किन्तु अपने में वह निश्चेष्ट
न उससे हिलडुल सकता पत्र।

क्रिया में भौतिक ही संयोग
और कोई है नहीं रहस्य
इसे मत आध्यात्मिक लो मान
नहीं यह कुछ कौतुकमय दृश्य।"

देवयानी के उर का तोष
नहीं हो पाया किसी प्रकार
पिता से सहमत थी तो नहीं
किन्तु कह सकी न आतम विचार।

हृदय में कच का बढ़ा प्रभाव
उत्तरोत्तर अतिशय उत्कृष्ट
सहज साहल्य बुद्धि का देख
हुई उस दिन तनमन से हृष्ट।

चला फिर शायं अन्य प्रसंग
और फिर से बोले आचार्य
"सदा सद—असद भाव की वृद्धि
रहित हो करिये जो हो कार्य।

रूढ़ि जो भाव उसे कर ग्रहण
पक्षपाती बन जाती बुद्धि—
नहीं फिर संस्कारों से मुक्ति
नहीं होती वैचारिक शुद्धि।

कहा कच ने सहसा तत्काल
"देव मैं हूं फिर से शंकालु"
मौन होकर सुनने को प्रश्न
रुक गये भार्गव महाकृपालु ।

"आप्त वाक्यों पर क्या विश्वास
नहीं है सुचित कहें श्रीमान् !
क्रमागत परम्परा की बात
मान्य कैसे न रहे धीमान् ।

वही है सदाचार का मूल
वही है गुरुओं का विश्वास
छोड़कर परम्परागत कार्य
जीव सहता है लौकिक त्रास ।"

कहा भार्गव ने होकर हृष्ट
"लोक का भय है आत्म विनाश
यही जीवों का है भय मूल
यही जन का आध्यात्मिक ह्रास ।

कर्म है वीरों की सम्पत्ति
कर्म है चिर नवीन कर्त्तव्य
कर्म की स्थिति के लिये न कभी
रहा कुछ दृश्य नहीं कुछ श्रव्य ।

कर्म है परम्परा से परे
सत्य है नित्य और स्वाधीन
आप्त वाक्यों का ही उपदेश
कर रहा उसे प्रगति से हीन ।

आप्त वाक्यों की जो उत्पत्ति
मूल है उसकी लौकिक दृष्टि
लगे उसमें हैं कुछ मस्तिष्क
मान्य कैसे माने सब सृष्टि ।

भिन्नता जब संसृति का मूल
एक रूपता विनाशी यत्न
आप्त की परम्परा रक्षार्थ
बुद्धि से परे अतर्क्य प्रयत्न ।

सृष्टि की प्राञ्जलता के लिये
विविधिता सदा अपेक्षित रही
वृक्ष की सत्ता है कि विभिन्न–
रूपता प्रति पत्राङ्कित रही ।

रूप में कर्मों में वैविध्य
यही सब मिलकर है संसार
भिन्न रूपों की अगणित ऊर्मि
बनाती मिलकर पारावार ।

अतः कोई भी हो क्रम नियम
बांध सकता है सब को नहीं
अतः जीवों की गतियां भिन्न
अनेकों धाराओं में बहीं ।

सत्व रजतम की सीमा — रेख
पार जाने को जो सन्नद्ध
विधि निषेधों का कोई सूत्र
नहीं करता उनको आवद्ध ।

आप्त वाक्यों की जो उत्पत्ति
मूल है उसकी लौकिक दृष्टि
लगे उसमें हैं कुछ मस्तिष्क
मान्य कैसे माने सब सृष्टि ।

भिन्नता जब संसृति का मूल
एक रूपता विनाशी यत्न
आप्त की परम्परा रक्षार्थ
बुद्धि से परे अतर्क्य प्रयत्न ।

सृष्टि की प्राञ्जलता के लिये
विविधिता सदा अपेक्षित रही
वृक्ष की सत्ता है कि विभिन्न–
रूपता प्रति पत्राङ्कित रही ।

रूप में कर्मों में वैविध्य
यही सब मिलकर है संसार
भिन्न रूपों की अगणित ऊर्मि
बनाती मिलकर पारावार ।

अतः कोई भी हो क्रम नियम
बांध सकता है सब को नहीं
अतः जीवों की गतियां भिन्न
अनेकों धाराओं में बहीं ।

सत्व रजतम की सीमा — रेख
पार जाने को जो सन्नद्ध
विधि निषेधों का कोई सूत्र
नहीं करता उनको आवद्ध ।

कर्म से जीवन का संबन्ध
देह पर जैसे वस्त्रावरण
अनावृत करके शुद्ध शरीर
ग्रहण करता है उसको मरण ।

एक ऋतु का होता आगमन
वृक्ष पर भर जाते फल—फूल
स्वयं में हो जाता अवलिप्त
अनागत को जाता है भूल ।

दूसरा ऋतु आता द्रुत दौड़
बदलता तरु पहले का रूप
छोड़ फल फूलों का आवरण
ग्रहण कर लेता शुद्ध स्वरूप ।

यही है जीवन का क्रम यहां
नहीं कर्मों का तनिक महत्व
नहीं सदसद् है कोई कर्म
न उनका जन्मान्तर संघत्व ।

जन्म है संयोगों की सृष्टि
जीव है ऐसा नहीं पदार्थ
कि जो फिर फिर से आता रहे
पूर्वकृत कर्मों के भोगार्थ ।

अतः विधि नियमों से हो दूर
क्षया पक्षा — पक्षों की भेद
सहजता के प्रकास में चलो
छोड़ वौद्धिक आध्यात्मिक खेद ।"

नमन करके श्रद्धा से मौन
समर्पित होकर के साभार
नम्र होकर गुरु के प्रति पुनः
किया विषयान्तर देवकुमार ।

"प्रभो देही का जब सम्बन्ध
देह से हो जाता है छिन्न
कौन सा बल ऐसा है देव !
कि फिर उसको रख सके अभिन्न ?

कौन सी वह है शक्ति महान् ?
देह को फिर देती चैतन्य ?
कौन है संजीवन का मंत्र ?
कि जिससे मिटे मरण का दैन्य ?

कौन वह ऐसा प्रभो रहस्य,
जिसे करते श्रीमान् प्रयोग ?
कौन तत्वों का वह संबन्ध ?
कौन सी औषधियों का योग ?"

शान्त होकर बैठे आचार्य
सुना जब ऐसा विस्तृत प्रश्न
एक क्षण हो बैठे गम्भीर
हृदय हो गया असहज सतृष्ण ।

देव सेना का यह उद्देश्य
जान लें संजीवन का तत्व
यही है कच का पहला ध्येय !
इसी के हेतु लिया शिष्यत्व !

इसी बल से असुरों पर रहा
हमारा चिर — कालीन महत्व
इसी बल पर आधारित आज
हमारी गुरुता का श्रेष्ठत्व ।

तत्व उद्घाटन से है हानि
देव दनुजों का होगा युद्ध
पक्ष दोनो होंगे समकक्ष
न कोई कर सकता अवरुद्ध ।

प्रतिष्ठा भी तब होगी क्षीण
और होगी गुरुता की हानि
और असुरों की रक्षा हेतु
नहीं पकड़ेगा कोई पाणि ।

किन्तु गुरु का है धर्म विचित्र
शिष्य से रखले कैसे भेद
शिष्य का हर कर सब अज्ञान
हरे भव संभव सारे खेद ।

सुना देखा समझा जो तत्व
औरे भी जो कुछ हो अनुभूति
समर्पित कर जीवन का सार
शिष्य में सब करदे निष्पूत ।

शिष्य गुरु का जो है सम्बन्ध
परस्पर आत्मार्पण की बात
कपट का कोई भी व्यवहार
नहीं कर सकता उस पर घात ।

ज्ञान की बढ़ती जाये ज्योति
अतः अन्तर का देकर दान
शिष्य को करके आत्म समान
बढ़ावे आगे अनुसन्धान ।

इस लिये कोई भौतिक हानि
कर न पाई मर्यादा रुद्ध
ज्ञान की अब तक जलती रही
सतत वर्धिष्णु ज्योति परिशुद्ध ।

प्रकट में बोले—"ऐसा ज्ञान
कि जिससे जीवन में सन्तोष
भरे प्राणों में देकर शान्ति
वही है विद्याओं का कोष ।

तुम्हारी शिक्षा का सर्वस्व
अभी है केवल तर्क विचार
पुष्ट हो जायेगी जब बुद्धि
तभी होगा विद्या संचार ।

पूर्ण हो जाये वर्ष सहस्र
तभी पावोगे यह अधिकार
तभी दूंगा संजीवन मंत्र
तभी होंगे उसके आधार ।

समय आने पर अपने आप
भेद कर रजनी का तम तोम
बाल रवि की किरणों का जाल
प्रकाशित कर देता है व्योम ।

सहन करके निदाघ का ताप
वायु का अनल प्रवाही वेग
धरा धारण करती है बीज
समय पर सागर का उद्वेग ।

अतः कच आने दो वह काल
और हो जाने दो तप पूर्ण
तभी देकर संजीवन मंत्र
करूंगा शिक्षा को सम्पूर्ण ।"

हुये कच किञ्चित नहीं निराश
बढ़ा मनमें निष्ठा विश्वास
अधिक उत्साह भरे उर मध्य
लगे करने अत्यधिक विकास ।

परायण सुश्रूषा में हुये
बचन मन कर्म लगे सोल्लास
ध्येय के प्रति हो परम सचेष्ट
छोड़कर उर से आश निराश ।

देवयानी का सद्व्यवहार
भर रहा था कच में परितोष
एक अज्ञात भाव की सृष्टि
कर रही थी ममता का पोष ।

खोजते थे मन में सर्वत्र
कहीं था मनमें राग निगूढ़
विकारों से रहते थे शुद्ध
किन्तु हो जाते कभी विमूढ़ ।

कभी रागात्मक होती वृत्ति
समर्पण का जगता था भाव
किन्तु नर होने का अभिमान
कठिन कर देता क्षुब्ध स्वभाव ।

और फिर उस दिन कोई भेंट
न देते थे लाकर बन से
दूर रहकर गुरु कुटिया से
साधना फिर करते मन से ।

किन्तु जिस दिन रहते थे दूर
देवयानी से होकर मौन
हृदय को अधिक वेग के साथ
विमन्थन करता जाने कौन ।

दिवस की सेवाओं का भार
देवयानी बहती थी स्वयं
अप्रकट हो कच के सब कार्य
भार्गवी कर देती थी स्वयं ।

न जिस दिन कच देते अवकाश
खिन्न रहती थी सेवा हेतु
टूट जाते स्वप्निल प्रासाद
भग्न हो जाते जीवन सेतु ।

एक दिन कच बोले इस भांति
हृदय की जटिल ग्रंथियां खोल
"छल रही जो मनका विश्वास
विषैली वायु रही है डोल ।

भर रहा है आश्रम का प्रान्त
वासना का ले दूषित गंध
न जाने क्यों प्रज्ञा के नेत्र
हुये जाते हैं प्रति – पल अन्ध ।

भार्गवी भर कर मृदु मुस्कान
अरुण अधरों पर कुछ बल डाल
चपल नेत्रों से हंसती हुई
खोलने बैठी मनके हाल ।

वासनाओं से रह कर दूर
प्रणय से रखकर वैर विरोध
कहाँ तक हम सब करते रहें
भावनात्मक जीवन से क्रोध ।

तुम्हारा यह कैसा अविचार
चाहते हो आध्यात्मिक शुद्धि
उपेक्षित कर शारीरिक भाव
मलिन कर देते हैं जो बुद्धि ।

नहीं जब तक शारीरिक शान्ति
कहां से होगा आत्म विकास
स्निग्ध जीवन की वर्ती एक
भर सकेगी विज्ञान प्रकाश ।

देह है आत्मा का आधार
देह का जब तक धर्म न तुष्ट
तपश्चर्या की कोई कोटि
न आत्मा को कर सकती पुष्ट ।

वासना का तब व्यापक क्षेत्र
सूख जायेगा अपने आप
दया अनुकम्पा का साम्राज्य
मिटा देगा विषयों का ताप ।





प्रणय से हृत्कलिका का गन्ध
प्राण के प्रति झोंके में बहे
बन्द कर उसको उर के बीच
कौन है दुसह भार जो सहे ।

उपेक्षित कर कोई आधार
कहां पर रख सकता आधेय
पंच भूतों से कोई परे
यहां पर ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय ।

वासनाओं से रहकर दूर
चाहते हो उन पर तुम विजय
असम्भव सी यह कैसी बात
वासना का होता कब विलय ।

चकित होकर मन से विक्षुब्ध
किन्तु धारण करके उर धीर
कहा कच ने यह कैसी बात
नहीं इसमें कुछ भी गम्भीर ।

वासनाओं से करके प्यार
कौन फिर पा सकता उद्धार
अन्त तक जीवन में बस रहे
सदा विषयों का मलिन विकार ।

वासना है मदिरा का पान
कि जिसका अलस भरा सम्भार
न जीवन में उतरेगा कभी
न उससे होंगे मुक्त विचार ।

वासना का जिसने विष पिया
खो गया फिर आत्मा का चेत
कर सकेगा वह क्या सत्कार्य
चुन गई जब चिड़ियां सब खेत ।

देवयानी ने हंसकर कहा
वासना से वंचित है कौन
यही है संसृति का आधार
यही बैठी जन जन में मौन ।

जिसे तुम कहते हो संसार
ईश के मनकी भीषण हार
वासनाओं का ही तो खेल
बनाता उसको करुणागार ।

अन्यथा रक्त मांस का प्यार
बनाता सबको रक्त पिपासु
न होता मनका मृदुल विकास
न होता कोई भी जिज्ञासु ।

ईश में परिरम्भण की प्यास
वासना ही की दुर्दम क्रान्ति
विश्व को भर लेता निज अंक
प्रलय की तुमको होती भ्रान्ति ।

हुई जब उसे रूप की प्यास
विश्व की चित्र पटी को खोल
बनाता कैसे चित्र विचित्र
सुधा सम भर कर मीठे बोल !

समर्पण

(३)

पावन प्रभात की वेला थी
शीतल मलयानिल डोल रहा
जगती की नाटक शाला का
परदा कोई था खोल रहा ।

रवि की किरणों ने रंग डाला
धरती का आँचल मन मानी
खोजने चले थे कलियों को
रस लोभी भौंरे अज्ञानी ।

विकसित मकरन्द भरे सरसिज
मधु लुब्ध मरालों की टोली
मन्थर गति से थी घूम रहीं
सरिता तड़ाग तट की खोली ।

विहंगों का कल कल राव
पादपों की शाखाओं पर छाया
श्यामा की बंशी बजी
रुक्मिणी ने खुलकर विहाग गाया ।

नर्तन करते थे शिखी कहीं
विरहाकुल कूकी पिकी कहीं
हर्षित बोली टिट्टिभी कहीं
प्रिय से पीड़ित चातकी कहीं ।

हिल उठे कहीं कचनार
कहीं सहकारों की बौरें डोलीं
रोमाञ्चित हो आये मधूक
तरु तरु की शाखायें बोलीं ।

चम्पा यूथिका मालती की
गाछें झोली भर फूली थीं
केतकी कहीं अपने सौरभ की
मादकता में झूलीं थीं ।

शाल्मलि शिशुपा शाल फूले
आलिंगित कर रजनीगंधा
वन फूलों पर जैसे उतरी
कोई अभिनव योजन गंधा

चन्दन की उमडी सुरभि
बही शीतल कुन्दों के कुञ्जों में
नन्दन वन की शोभा छाई
विहंगों के कल कल गुञ्जन में ।

चमकी थी हेमराशि जैसी
सरिता रवि नव की किरणों में
कर्मठ हो गये जीव सारे
नव छवि छाई द्रुम पर्णों में ।

नभ के ऊपर पृथ्वी ने भी
रोली फेंकी मुट्ठी भरके
रंग गया क्षितिज का क्षीणाञ्चल
अभिरंजित चीनाँशुक झलके ।

समर्पण

(३)

पावन प्रभात की वेला थी
शीतल मलयानिल डोल रहा
जगती की नाटक शाला का
परदा कोई था खोल रहा ।

रवि की किरणों ने रंग डाला
धरती का आँचल मन मानी
खोजने चले थे कलियों को
रस लोभी भौंरे अज्ञानी ।

विकसित मकरन्द भरे सरसिज
मधु लुब्ध मरालों की टोली
मन्थर गति से थी घूम रहीं
सरिता तड़ाग तट की खोली ।

विहंगों का कल कल राव
पादपों की शाखाओं पर छाया
श्यामा की बंशी बजी
रुक्मिणी ने खुलकर विहाग गाया ।

नर्तन करते थे शिखी कहीं
विरहाकुल कूकी पिकी कहीं
हर्षित बोली टिट्टिभी कहीं
प्रिय से पीड़ित चातकी कहीं ।

हिल उठे कहीं कचनार
कहीं सहकारों की बौरें डोलीं
रोमाञ्चित हो आये मधूक
तरु तरु की शाखायें बोलीं ।

चम्पा यूथिका मालती की
गाछें झोली भर फूली थीं
केतकी कहीं अपने सौरभ की
मादकता में झूलीं थीं ।

शाल्मलि शिशुपा शाल फूले
आलिंगित कर रजनीगंधा
वन फूलों पर जैसे उतरी
कोई अभिनव योजन गंधा

चन्दन की उमडी सुरभि
बही शीतल कुन्दों के कुन्जों में
नन्दन वन की शोभा छाई
विहंगों के कल कल गुन्जन में ।

चमकी थी हेमराशि जैसी
सरिता रवि नव की किरणों में
कर्मठ हो गये जीव सारे
नव छवि छाई द्रुम पर्णों में ।

नभ के ऊपर पृथ्वी ने भी
रोली फेंकी मुट्ठी भरके
रंग गया क्षितिज का क्षीणाञ्चल
अभिरंजित चीनाँशुक झलके ।

वक्षस्थल विल्व लताओं के
शोभित थे भरकर फल कठोर
उमड़ाया जीवन का सागर
ले कर्म लहरियों का हिलोर ।

रजनी का दूर निवास हुआ
चढ़ आये कुछ ऊपर दिनेश
भर गया गुहाओं में प्रकाश
धरती ने पहिना नवल वेश ।

तत्पर थे जाने को वन में
लाना था नव फल फूल मूल
कच के समीप आकर बोली
भार्गवी हृदय का स्वत्व भूल ।

लेकर निज कर में कच का कर
चुम्बन करके उन्माद भरी
हँसती सी नयनों की गति में
कम्पित ज्यों सागर की लहरी ।

धरती सी भूकम्पन में ज्यों
झंझा में लता मालती की
अर्पित होने को मन्दिर में
कम्पित ज्यों ज्योति आरती की ।

जल के आवर्तों में जैसे
कम्पित हो कोई जल भ्रमरी
प्राणों में जैसे भर जाये
आशा की कोई नव लहरी ।

"प्रिय हो कच मेरे प्राणों को
तुम अब तक जान न पाये क्या ?
मेरे उर का अवसाद एक
तुम अब तक माप न पाये क्या ?

मैंने कर दिया समर्पण हैं
अपने तन मन को प्राणों को
पर तुमने किया तिरस्कृत है
मेरे रागात्मक मानों को ।

बोले कच मन में विस्मित हो
"यह कैसा है उन्माद अहो !
नारी की मर्यादा छोड़े
करती कैसा परिवाद अहो !

हे देवि प्रणय की मादकता
जब शील नष्ट कर देती है
तव प्रेम जगत की मृदुता को
वह शीघ्र भंग कर देती है ।

तुम मेरी श्रद्धा भाजन हो
मैं यहां एक अन्ते-वासी
लज्जित हूं ऐसी चर्चा से
मैं विद्या का हूं अभिलाषी ।

हे देवि तुम्हारी सेवा की
जो मुझमें अब तक अभिरुचि है
कुछ अन्य भाव कल्पित न करो
मेरी इच्छा शतशः शुचि है ।

विद्या का मेरा ध्येय यहाँ
जो पावन से पावन तम है
मेरे में नित्य भरा करता
शुचिता दमिता का संयम है ।

मन की दुर्बलता से उपजा
यह प्रणय महा विध्वंसक है
यश के शिखरों से जीवन का
क्रूरता पूर्वक भ्रंसक है ।

इसका अधिकार हुआ मन में
कर्मों पर सहसा घात हुआ
कोमल प्रज्ञा के पत्रों पर
जैसे सहसा हिम पात हुआ ।

मर्यादा से च्युत कर देता
लज्जा शीलता मिटा देता
निश्चित उद्देश्यों से मन को
वल पूर्वक प्रणय हटा देता ।

इस लिये क्षमा कर दो मुझको
मेरा उद्देश्य महत्तम है
बस एक तुम्हारी पूजा ही
भार्गवि ! मुझको सर्वोत्तम है ।

कच ने वन को प्रस्थान किया
होकर मन में सुस्थिर प्रसन्न
भार्गवी हृदय से क्षुब्ध हुई
विस्मित सी कुछ खिन्नावसन्न ।

मन में कोमल भावना जगी
नव–स्नेह भर गया कच के प्रति
जितना कठोर नर होता, उतनी
मृदु होती नारी की मति ।

कच सोच रहे थे मन ही मन
नारी का यह क्या रूप अहो
यह प्रणय–पिपासा, जीवन का
कितना गर्हित अपरूप अहो !

नारी है शक्ति–स्वरूप मयी
नर पर आई विजयी बनने
शस्त्रास्त्र अनेकों से आहत
करके नर को बन्दी करने ।

लज्जित सस्मित विस्मित सी हो
मधु–हास कभी करुणा क्रन्दन
उत्साह कभी तो अलस भाव
चुप चाप नयन से जल स्यन्दन ।

होते यह अस्त्र प्रभावहीन यदि
तो सम्पूर्ण समर्पण है
इन सारे अस्त्रों से घातक
नारी का अपना अर्पण है ।

अपना सर्वस्व समर्पण कर
रहती चिरकाल विजयिनी है
नर पर जय की अभिलाषा से
नारी चिरकाल प्रणयिनी है ।

ले क्षुधा विजय की घूम रही
नारी की कोमलता मृदुता
उसके अनुकम्पा के पट में
लिपटी है माया की पटुता ।

छलना है चिर मृगतृष्णा है
मानस की अधःकर्षिणी है
डसने को नर की कर्मठता
नारी सुकुमार सर्पिणी है ।

माया है और वञ्चना है
जितना उसमें सब कुछ अभिनय
जीवन का अन्धा रूप प्रणय
जीवन का है विद्रूप प्रणय ।

इस भाँति विचारों में डूबे
कच खोज रहे थे नूतन फल
वन की शोभा उन्मुक्त वायु
करती प्रति पल मानस निर्मल ।

उस ओर देवयानी का उर
चिन्ता से भरता जाता था
कच की अनुपस्थिति का विलम्ब
आकुलता भरता जाता था ।

चल रहा उधर दिति पुत्रों में
कुत्सित कुचक्र कच के वध का
उस नगरी में था पुण्य पाप
साम्राज्य अकंटक था अघ का ।

वृषपर्वा से प्रेरित दानव
कच का वध करने आये थे
छिपकर तरुओं के कुन्जों में
हत्या की घात लगाये थे ।

अपराध यही कच का केवल
संजीवन का विज्ञान ग्रहण
कैसे दानव सह सकते थे
देवों का यह वञ्चनाध्ययन ।

जो स्वाभिमान के पोषक हैं
जिनमें जीवन का मूल्य मान
वे सह सकते कैसे उसको
जिससे होता निन्दापमान ।

वह जाति तिरस्कृत हो कैसे ?
जिसने आजीवन युद्ध किया ?
जिसने अधिकारों के हित में
जन–मानस को प्रति वुद्ध किया।

जिसमें अभिमान स्वजीवन का
जिसमें हो परम्परा का बल
कैसे न सतर्क रहे फिर वह
जब होता हो उसके प्रति छल ?

वञ्चक के साथ वञ्चना का
व्यवहार नहीं जो करते हैं
उनके अंगों में गरलवाण
चुप से चुभ जाया करते हैं ।

मानी की सदा प्रवृत्ति यही
जो सम हैं उसे न सहते हैं
मेघों की ध्वनि पर बार बार
केसरी कुमार गरजते हैं ।

मद से उन्मत्त मतङ्गों को
गिरि–शृंग कहीं दिख जाते हैं
सम–रूपकता पाकर अपनी
पाषाणों से लड़ जाते हैं ।

सहसा कच के ऊपर विद्युत
सा हुआ परिध का क्रूर घात
मूर्छित, हो मृत हो गिरे
गिरा दे देवदारु, ज्यों महावात ।

हर्षित दानव आगये निकट
कुछ किया परस्पर परामर्श
देखा कच को मृत, शान्त हुआ
उर में जलता था जो अमर्ष ।

क्रूरता पूर्वक काट काट
कच के शरीर का स्वल्प भाग
वृक और शृंगालों को कुछ दे
कुछ से परितोषे गृद्ध काग ।

अवशिष्ट नहीं कण कोई भी
क्षण में शरीर का सर्वनाश !
देहाभिमान पर महाकाल
कर रहा युगों से अट्टहास ।

माता की ममता वत्सलता
उसकी श्वासों का चिर क्रन्दन
पूजा उपवास व्रतादि पुत्र हित में
देवों के अभिनन्दन ।

पुरजन परिजन मित्रादि अनेकों–
की सुकामनाओं का बल
कब रोक सका है; सर्वग्रासी
काल चक्र का जीवन छल ।

कब शान्त हुई है महाकाल की
जलती हुई जठर ज्वाला ?
कब मुरझाई उसके उर पर
शोणित से सनी मुण्डमाला ?

संध्या होने को आई है
लौटे कच वन से अभी नहीं
यह सोच देवयानी के उर
लज्जा मर्यादा सधी नहीं ।

कच्र के जीवन की आशंका
भर गई हृदय के तारों में
कम्पित हो गईं शिरायें सब
डूबा मन हाहाकारों में ।

सत्वर जाकर भृगु के समीप
बोली अत्यन्त नम्रता से
"कच अब तक लौटे नहीं तात
शंकित है हृदय विकलता से ।

ऐसा प्रतीत होता मुझको
उनके जीवन पर घात हुआ
यदि हुआ यही तो मेरे जीवन
पर भी वज्राघात हुआ ।

जीवित न रहूंगी कच विरहित
हे तात ! उन्हें जीवित करलो
मेरे जीवन का महाशोक
जिस भाँति बने सत्वर हरलो ।

भार्गव ने योग दृष्टि से जब
देखा तो कच का अस्थिमाँस
विहंगों पशुओं के उदरों में
पक रहा जठर की श्वास श्वास ।

हो गये दया से द्रवित.
कल्पना सबल जगी नवजीवन की
कच में संस्थापित करने को
गति चपल हुई वलिष्ठ मन की ।

कुछ छण के लिये समाधि लीन
हो गये कर्म नायक भार्गव
उत्फुल्ल हो उठा रोम रोम
मुख पर छाया असीम आर्जव ।

संस्मरण किया संजीवन का
जो व्यापक है सर्वत्र सदा
वह शक्ति असीम भरी सब में
वह है सबको जीवन–प्रदा ।

जो शव को भी कुछ काल
विखर जाने से सदा बचाती है
जो स्थूल प्राण से परे
और जीवन में जीवन लाती है ।

करके आवाहन जीवन का
कच में कर दिया प्रतिष्ठापन
फिर कच के जीवित होने का
पुत्री से किया प्रतिज्ञापन ।

कुछ छण में ही विहंगों पशुओं के
उदरों को करके विदीर्ण
हो गये प्रकट कच आश्रम में
मुख पर थीं नव किरणें विकीर्ण ।

कच के शरीर की नवल कांति
करती थी उस क्षण मंत्र मुग्ध
जैसे सुवर्ण का अरुण पिण्ड
निकला हो हो कर अग्नि-क्षुब्ध ।

कुञ्चित केशों की लुलित लटें
घेरे थीं दोनों स्कन्धों को
नव पीन बाहुओं पर पहना
था, रत्न जटित भुजवन्धों को ।

उन्नत ललाट उत्तुंग वक्ष
हरि चन्दन से अंकित प्रकोष्ठ
नव नीलोत्पल से नयन विकच
वन्धूक सदृश अरुणाधरोष्ठ ।

भ्रू बंक भरे निःशंक भाव
पौरुष की रेखायें गहरी
त्रिवली पर मचल रहीं शत शत
नव यौवन सागर की लहरी ।

प्रणिपात किया कच ने गुरु को
अर्पित की प्रणति भार्गवी को
वृत्तान्त कहा अपने वध का
निन्दित कर शक्ति दानवी को ।

रजनी छाई शशि की किरणें
बरसातीं आईं प्रणय राग
कच के अन्तरतम में छाया
विद्या तप निष्ठामय विराग ।

छाया निशीथ का नीरव था
ज्योत्स्नालिंगित तरु लता–पत्र
नभ में प्रकाश का महासिन्धु
उद्वेलित होता यत्र तत्र ।

निद्रा–विरहिता देवयानी
अतिशय चिन्तित थी मन ही मन
प्रिय कच की कुशल कामना में
होती थी फिर फिर से उन्मन ।

दुश्चिन्ता तथा अनिष्ट भाव
जितना प्रिय के प्रति होता है
उतना गम्भीर प्रणय निश्चित
प्रणयी के मन में होता है ।

आशंका प्रिय के जीवन की
क्षति की होती जब क्षण क्षण है
प्रणयी के उर में प्रणय पुष्टि
का वही प्रबलतम लक्षण है ।

कच के जीवन क्षति की शंका से
भृगु–पुत्री थी महाकुला
दिति पुत्रों से कच की रक्षाहित
व्यग्र और मन में विकला ।

किस भाँति हृदय के तारों से
तुमको प्रियतम कस पाऊं मैं
किस भाँति प्रणय की कारा में
तुमको बन्दी कर पाऊं मैं ।

अन्तर की कलिका का सौरभ
बन कर छिप जावो जीवन में
बन कर परितोष प्रणय का तुम
भर जावो प्रिय मेरे मन में ।

बन कर निद्रा का वेग प्रबल
छा जावो मेरे नयनों में
सौरभ बन कर मेरे मन का
छा जावो कोमल स्वप्नों में ।

उमड़ा जो स्वर नवरागों का
मेरे उर के प्रति कम्पन में
छिप जावो बन उनका रहस्य
मेरे अन्तर के कण कण में ।

पलकों की विकल प्रतीक्षा में
वन कर भर जाते अभिलाषा
यौवन की सबल तरंगों की
बन जाते प्रिय निगूढ़ भाषा ।

होगया दिवाकर का प्रवेश
चिन्ता में रजनी विगत हुई
कच के समीप भृगु कन्या फिर
अपनी भूषा में प्रकट हुई ।

होकर विनम्र अभिनन्दन कर
बोली मृदु प्रणय भरे स्वर में
क्या आज पुनः प्रिय जाने को
उद्यत हो निर्जन भूधर में ?

जो हैं कर्त्तव्य प्रति दिवस के
उनमें किस लिये प्रमाद करूं
किस भय से नैत्यिक कर्मों को
तज कर मन में अवसाद करूं ?

अपने कर्तव्यों से च्युत होते
वीर नहीं जीवन भय से
उनका विनाश सज्जित रहता
सर्वदा कर्म-शाली जय से ।

देखा भृगु पुत्री ने कच की
कर्तव्य-शीलता की दृढ़ता
बोली अत्यन्त नम्रता से
मिश्रित कर मन की कोमलता ।

"आराधन करना है मुझको
कच, आश्रम की कुल–देवी का
इस हेतु अपेक्षित हैं कुछ फल
नैवेद्य करूंगी देवी का।

मेरी है विनय नम्रता से
फल ला दो प्रिय अतिकाल न हो
संकुचित मध्य दिन के आगे
रवि की किरणों का जाल न हो।

फल लाने को चल दिये शीघ्र
कच के मन में उल्लास भरा
पुलकित हो आया रोम रोम
वर्षा जल से ज्यों वसुन्धरा।

मन्तव्य देवयानी का जो
वह प्रकट हो गया था मन में
चिन्तित थी प्रिय के कुशल हेतु
आतुर थी उनके दर्शन में।

नारी का प्रणय निगूढ़ कहीं
नर पर प्रकटित हो जाता है
नर की मृदुता का भाव
अपरिमित गति से तब बढ़ जाता है।

निश्छल निःस्वार्थ पवित्र—
विषय के उद्वेगों से अनाघ्रात
यह पारस्परिक निगूढ़ प्रणय
का रूप रहा है सुविख्यात।

जीवन में जहाँ दुरीप्सा
मलिन भावना दर्प प्रलोभन है
निःस्वार्थ स्नेह की एक झलक में
इन सब का परिशोषण है ।

कच के अन्तर में स्नेह जगा
लेकर ममता चिर कोमलता
भृगु पुत्री का निस्तब्ध प्रणय
अपहृत करता मन की जड़ता ।

दुष्टों के षड्यंत्रों को भी
पूरा करती है एक शक्ति
इससे सदसन्मय जगत्—
भरा करता है चिंतक में विरक्ति ।

दैत्यों ने फिर देखा कच को
मन में हिंसा उत्पन्न हुई
वध करने का अति प्रबल भाव
छाया उर में संतप्ति हुई ।

सम्मति करके निज मित्रों में
फिर से मारक आघात किया
कच के शरीर के कण कण कर
सागर के मध्य निपात किया ।

हंस कर संलाप परस्पर
दिति पुत्रों ने किया प्रसन्न चित्त
अपनी इस क्रूर सफलता पर
उनके मन थे आनन्द सिक्त ।

मध्यान्ह बीतने को आया
कच लौटे नहीं पुष्प लेकर
जीवन विनाश की आशंका
छू गई भार्गवी का अन्तर ।

परिलक्षित करने को अपना
औदास्य प्रणय के जीवन से
प्रिय आये नही, अभी तक तुम
लेकर फल फूल महाबन से ।

अर्पित तुमको जब जीवन है
कैसी फिर कठिन परीक्षा यह
अब मरण काल से भी दु:खद
प्राणों के प्राण प्रतीक्षा यह ।

कौतुकमय क्रीड़ा है नर को
यह प्रेम क्षुब्ध सर की लहरी
नारी का है सर्वस्व प्रणय
जीवन दायिनी शक्ति गहरी ।

चिन्ता में पड़ी देवयानी
यह सोच रही थी मन ही मन
उत्सर्ग किये थी अपना सब
जो कुछ उसका था तन मन धन।

उस ओर अरुणिमा फैली थी
नत मस्तक हुये अंशुमाली
रंजित हो गये शिखर पर्वत
द्रुम-दल बन-प्रान्त विहंगाली ।

आकुलता भर आई मन में
प्रिय के जीवन की हानि हुई
पीड़ित हो गये प्राण दुख से
मानस में अतिशय ग्लानि हुई ।

संकुचित सहज लज्जा से
नत मस्तक हो पितृ समीप गई
कच के जीवन की आशंका
उसकी आकृति से व्यक्त हुई ।

"हे तात ! पुनः दैत्यों ने कच के–
जीवन का संहार किया
ऐसा प्रतीत होता उन पर
विध्वंसक पुनः प्रहार किया ।

उनके जीवन से जीवन है
मेरे जीवन की ज्योति वही
उनसे विरहित होकर मेरे
प्राणों में कोई शक्ति नहीं ।

उनका दर्शन ही जीवन है
मेरे प्राणों का है स्पन्दन
इतना कह कर भृगु–पुत्री ने
हो विकल किया करुणा-क्रन्दन ।

भार्गव ने अन्तर्दृष्टि किया
तो देखा कच को सागर में
जल रहे देह के कण कण थे
भीषण दाहक बड़वानल में ।

संजीवन का विनियोग किया
जीवन देवों का आवाहन
जो प्राण प्राण में व्यापक है
उसका करके फिर आवाहन ।

कच के जीवन की आङ्क्षाँक्षा
जब तीव्र हुई उनके उर में
कण कण मिल गये, देह निर्मित
कच की हो आई सागर में ।

जैसे ही दृढ़तम भाव लिये
आह्वान किया कच का मन में
वैसे ही निर्मल ओजस्वी
वपु प्रकट हुआ कच का क्षण में ।

आलिंगित कर कच को
प्रसन्न–वदना भृगु पुत्री हृष्ट हुई
प्रिय के वियोग की आशंका
उर से सर्वथा विनष्ट हुई ।

विवेचन

(४)

सरल सहज था स्नेह हृदय में
करुणा का था स्तर गहरा
भृगु–पुत्री के मानस में कच के
प्रति था सौहार्द भरा ।

जीवन का उत्साह कार्य की—
शक्ति, और आनन्दाह्लाद
मुख मण्डल की कान्ति
मनो–माधुर्य हृदय का परम प्रसाद ।

सब कुछ था कच के दर्शन से
ज्योतित था अंतर का प्रान्त
सस्मित रहती नवल यूथिका–
सी पुष्पों से भाराक्रान्त ।

तरल कूलिनी शरत्काल की
संयत दोनों छोरों से
अनुकम्पा की वृष्टि बरसती
सतत नयन की कोरों से ।

यौवन का आह्लाद उमड़ता
लख कर कच का हिमकर रूप
आश्रम के अंचल में प्रतिपल
छाई रहती छटा अनूप ।

मृदुल भावना के उद्‌गम सी
सर सुप्ता शशि–ज्योत्स्ना सी
प्रियतम के दर्शन को आकुल
तरुण दृगों की तृष्णा सी ।

नव–सरोजिनी सी दिनकर–
कर का पाकर पहला संस्पर्श
नयनों से, अधरों से प्रतिपल
फूट रहा था उर का हर्ष ।

प्रथम किरण सी तरल उषा की
छूकर नभ के अवनत छोर
राग बरसती प्रणय स्वरों का
कर्म स्रोत की अरुण हिलोर ।

वसुन्धरा सी वक्षस्थल पर
वहन किये ममता का भार
चेतनता देती जड़ता ले
सुरभि कोष के खोले द्वार ।

करने को उत्सर्ग स्वयं का
उमड़ाता श्वासों का ज्वार
भर जाती मुसकान सुधा सी
तोड़ अधर का कारागार ।

ज्योत्स्ना सी मधु ऋतु सुषमा में
छू कर मलयानिल के प्राण
तरल कर रहीं जन मानस को
भर कोकिल में अभिनव गान ।

आम्र नील–उत्पल अशोक
अरविन्द मल्लिका के संधान
करता मनसिज भ्रू विलास पर
मधुर कामना के नव वाण ।

रजत–स्वर्ण की संमिश्रण सी
किरण गर्भिता हिम की मूर्ति
अनल भरे कर्पूर हृदय के
लहराती लपटों की स्फूर्ति ।

शशि ज्योत्स्नालिंगत किंशुक सी
तरल मसृण किंजल्क मृदुल
नव पराग पूरित वसन्त की
स्निग्ध–मुग्ध सी कुन्द मुकुल

नवल वधू सी शीलवती
संकुचित मना दाक्षिण्य मयी
वन्य मुकुल सी परम प्रगल्भा
सब के प्रति कारुण्य मयी ।

एक मात्र चिन्ता थी कच के—
जीवन की उर में सब काल
मणि की चिन्ता से आकुल
रहता हो जैसे मणिधर व्याल ।

स्वीकृत करते नहीं देव सुत
उसके मन का यह आशय
विचरण करते सघन वनों में
सदा दानवों से निर्भय ।

नर का गौरव रहा अस्वीकृत—
करने में नारी की बात
पुरुष दर्प से सदा मानती
आई नारी अपनी मात ।

कच कहते थे जीवन
निर्भयता का ही तो है पर्याय
भय के अन्तर्गत रहना
जीवन है मरण—युक्त व्यवसाय ।

भय मिश्रित जीवन से उत्तम
एक बार सम्मुख आह्वान
विजय शत्रु पर या कि
सदा के लिये प्राण का हो प्रस्थान ।

अधम निरय के पात्र
छद्म आघातों पर करते विश्वास
भय ऐसे कापुरुषों का
देता प्रतिपल है भीषण त्रास ।

जीवन नारकीय संकट है
यदि छाया मिथ्या भय है
जीवित रहना कष्ट—प्रद है
जीवन अति संकट मय है ।

जो अभ्यासी स्वतन्त्रता के
उन्हें कौन बन्धन जग के
भय अनुराग विराग हुये कब,
गति रोधक उनके पग के ?

व्यथित विरह भय से भृगुपुत्री
शोक मग्न चिन्ता से युक्त
रिक्त मना अवसन्न
अनिष्टों की आशंका से संयुक्त ।

यथाशक्ति कच के मन को
रखती थी आश्रम में परितुष्ट
ईषत् हास भरे अधरों में
प्रणय–निराशा में संतुष्ट ।

उधर सोचते कच–यह कैसा
नारी का दुर्बल मन है
यह जीवन भर दैन्य निराशा
शोक दुःख का कारण है ।

नारी क्या केवल तृष्णा है
प्रेम पिपासा की है मूर्ति
क्या वह नर के विना नहीं
पा सकती है जीवन की पूर्ति

शक्तिमयी वह क्या इतनी
दुर्बलता का अभिशाप लिये ?
स्निग्ध तरल कैसे, अंतर में
ज्वलित युगों का ताप लिये ।

जीवन भर सौभाग्य सुखों के
यज्ञ कुण्ड की समिधा है
मन्द–स्मिति में अन्तरतम के
अश्रु कणों की अभिधा है ।

क्या नारी है सृष्टि कुहू की
उसके अन्तर काले हैं ?
जग की ज्योति नाटिका में
क्या तम के पर्दे डाले हैं ?

नारी है नर के जीवन में
ज्योतिर्मय रत्नों की खान
कोई उसमें रत्न खोजता
कोई खोज रहा पाषाण ।

वह प्रकाश की स्थिति निरुपद्रव
विश्वात्मा की परानुभूति
नारी परमेश्वर के कर की
सब से ऊर्जस्वला बिभूति ।

इसी समय कुछ क्लान्त
मन्द गति में लज्जा की मारी सी
आई कच के निकट भार्गवी
अन्तरतम में हारी सी ।

कच ने उठ कर आदर से
श्रद्धायुत स्वागत मान किया
देवोचित विधि से भृगु-पुत्री को
मध पर्क प्रदान किया ।

आदर विधि में अधिक लज्जिता
घन के निकट मयूरी सी
बोली मन्दस्मिति मे, नभ से-
उतरी किरण किशोरी सी ।

आई हूं कहने अन्तर में
एक बड़ी है दुश्चिन्ता
जो मेरे जीवन में उतरी—
है बनकर मेरी हन्ता ।

मस्तक की प्रत्येक शिरा में
जो छाई रहती प्रतिपल
जो मेरे मानस को क्षण—
क्षण में कर देती व्यथित विकल ।

यहाँ दानवों के कुचक्र से
निकल सकोगे क्या निर्विघ्न ?
यह विचिकत्सा मेरे मन को
करती रहती है उद्विग्न ।

वन में जाना रोक नहीं—
पाती तुम हो निर्भीक बड़े
अपनी ही हठवादी मति में
रहते हो निर्वाध अड़े ।

नारी के कहने पर नर का
चलना भी तो बर्जित है
मर्यादा से पतित न हो
जितना नरता का अर्जित है ।

तुम्हें मान्य है नहीं कभी
मेरी सम्मति मेरी अनुमति
नहीं झुकेगा दर्प मनुज का
होवें शतशत जीवन क्षति ।

यद्यपि यह जड़ता है फिर भी
कहलाती नर का श्रृंगार
नर नारी के भाव जगत के–
मध्य यही दुर्गम दीवार ।

नहीं मानते हो तो निश्चित
होगी दुर्लभ–जीवन हानि
यही सोचकर मेरे अन्तर में
उठती है भीषण ग्लानि ।

अतिथि तथा अन्तेवासी हो
कच तुम प्रिय हो जन जन के
इस आश्रम के परम तपस्वी
आशा–किरण देव गण के ।

मेरे मन के हो प्रसाद तुम
मेरे अन्तर के आराध्य
अतः मुहमुंह करती रहती
तुम्हें तुम्हारे हित में वाध्य ।

नारी को अभिशाप मिला है
प्रणय–निराशा ढोने को
इस अनुर्वरा कठिन–भूमि में
वीज सृजन के बोने को ।

तुम्हें छिपाये हूँ अन्तर में
हृदय कली के मंजु पराग
देख तुम्हारी ही मुख मुद्रा
उठते उर में राग विराग ।

नारी का है प्रेम नित्य
होगा अनित्य मिथ्या संसार
प्रेम खिलौना है नर का
नारी के तो जीवन का सार ।

अतः तुम्हें वर्जन करती हूँ
वन में फिर से जाने को
यहाँ दानवी षड्यंत्रों में
फिर से कभी न आने को ।

हृत्प्रदेश में चिर संचित है
अनल शिखा सी विह्वलता
दाह भरी मेरी श्वासें
मैं अग्नि–गर्भिता शमी–लता ।

लज्जा नारी की विभूति है
जीवन–मोती का पानी
उतर गया तो सत्व हीन
जीवन है व्यर्थ निरभिमानी ।

विरह तुम्हारा सह न सकी थी
विह्वल दौड़ी पितृ समीप
उनकी अनुकम्पा से फिर
जल उठा तुम्हारा जीवन दीप

प्राण ! तुम्हारे हेतु सभी
जीवन की मर्यादा तोड़ी
दुर्बल मन के कर में लिखने को
जीवन ! गाथा छोड़ी ।

यद्यपि यह जड़ता है फिर भी
कहलाती नर का श्रृंगार
नर नारी के भाव जगत के–
मध्य यही दुर्गम दीवार ।

नहीं मानते हो तो निश्चित
होगी दुर्लभ–जीवन हानि
यही सोचकर मेरे अन्तर में
उठती है भीषण ग्लानि ।

अतिथि तथा अन्तेवासी हो
कच तुम प्रिय हो जन जन के
इस आश्रम के परम तपस्वी
आशा–किरण देव गण के ।

मेरे मन के हो प्रसाद तुम
मेरे अन्तर के आराध्य
अतः मुहर्मुह करती रहती
तुम्हें तुम्हारे हित में वाध्य ।

नारी को अभिशाप मिला है
प्रणय–निराशा ढोने को
इस अनुर्वरा कठिन–भूमि में
वीज सृजन के बोने को ।

तुम्हें छिपाये हूँ अन्तर में
हृदय कली के मंजु पराग
देख तुम्हारी ही मुख मुद्रा
उठते उर में राग विराग ।

नारी का है प्रेम नित्य
होगा अनित्य मिथ्या संसार
प्रेम खिलौना है नर का
नारी के तो जीवन का सार ।

अतः तुम्हें वर्जन करती हूँ
वन में फिर से जाने को
यहाँ दानवी षड्यंत्रों में
फिर से कभी न आने को ।

हृत्प्रदेश में चिर संचित है
अनल शिखा सी विह्वलता
दाह भरी मेरी श्वासें
मैं अग्नि-गर्भिता शमी-लता ।

लज्जा नारी की विभूति है
जीवन-मोती का पानी
उतर गया तो सत्व हीन
जीवन है व्यर्थ निरभिमानी ।

विरह तुम्हारा सह न सकी थी
विह्वल दौड़ी पितृ समीप
उनकी अनुकम्पा से फिर
जल उठा तुम्हारा जीवन दीप

प्राण ! तुम्हारे हेतु सभी
जीवन की मर्यादा तोड़ी
दुर्बल मन के कर में लिखने को
जीवन गाथा छोड़ी ।

बस इतना लो मान
कि रक्षा हित अपने ही प्राणों के
सावधान अब लक्ष्य न होना
मायावी सन्धानों के ।

मैंने तुम्हें एक दिन अपने–
अन्तर में कुछ माना था
अपने आत्मा के प्रकाश में
तुम्हें प्रथम पहिचाना था ।

आशा अभिलाषा मेरी
तुमसे तो पूरी हो न सकी
मेरे प्राणों की जिज्ञासा
रंच उत्तरित हो न सकी ।

प्रणय भंग होने पर नारी
काल कूट की ज्वाला है
मृत्यु दंश उपहार बाँटती
गरल भरी अहि–बाला है ।

प्रेम–पराजित नारी के
अन्तर में ज्वार समाया है
आग लगाने को धरती पर
धूम्रकेतु की छाया है ।

किन्तु तुम्हें जब एक बार
कर चुकी प्रतिष्ठित श्वासों में
पूजूंगीं सर्वदा तुम्हें
प्रियतम ! टूटे विश्वासों में ।

अतः तुम्हारे शुभ चिन्तन में
मेरा है सर्वस्व लगा
मुझे हर्ष है इसी भाँति
बस मेरा मानस रहे ठगा ।

कर लेना स्वीकार निराशा
इससे बढ़ कर क्या दुख है
आत्म वंचना ही जीवन में
सबसे सुन्दरतम सुख है ।

होकर शिथिल क्लान्त
अन्तर में चुप हो गई देवयानी
भावुकता की उच्छ्वासों में
जलने लगी मूक वाणी ।

देखा कच ने दृष्टि डाल
नयनों में आहत व्याली के
चेतनता के स्वर जागे
मस्तक में चिंतन शाली के ।

"तुम मेरे अन्तर की श्रद्धा
मेरे प्राणों की आशा
तुम्हें उपेक्षित कौन कर सका
तुम जीवन की परिभाषा ।

वारम्बार प्रणति अर्पित है
मेरी श्रद्धा पात्री हो
देह तुम्हारा ही तो ऋण
तुम मेरी जीवन दात्री हो ।

तुम हो राजमराली
मानस के मुक्ता चरने वाली
तुम हो महा मानिनी
जैसे विजन विपिन में शेफाली ।

मेरे जीवन का भय तुमको
अब से किञ्चिन्मात्र न हो
दुश्चिन्ता का कारण तुमको
अब से मेरा गात्र न हो ।

देह और उसके सुख सारे
हैं अनित्य संस्पर्शाधीन
जो चिन्तक हैं वे होते हैं
कभी नहीं उनमें संलीन ।

मनस्तत्व का भेद यहीं
होता है स्पष्ट बुद्धि से भिन्न
देह सुखों की तीव्र लालसा
करती प्रज्ञा को उद्विग्न ।

जिनमें बुद्धि प्रबल होती है
देह सुखों का करती ह्रास
यह संस्पर्शज सुख उसके
जीवन को दे न सकेंगे त्रास ।

स्थूल सुखों के ऊपर मैंने
करके प्राणों को अवरुद्ध
किया उपेक्षित निम्न सुखों को
रख कर जीवन को परिशुद्ध ।

स्वीकृत है जो कहो, किन्तु
मत तोड़ो ऊंची परम्परा
जीवन का संग्राम इसी हित
यही जगत् की परम्परा ।

तुम जीवन दायिनी अतः तुम
मुझे मातृवत् हो आराध्य
अस्थिर संकल्पों के हित में
करो देवि मत मुझको वाध्य ।

मानस की संग्राम भूमि पर
योद्धा हैं षड् मनोविकार
उन पर विजय प्राप्त करने को
अस्त्र मिला है बुद्धि–विचार ।

रमण करो उस महाशक्ति में
जो सब जीवों में रममाण
अचिरस्थायी माँस चर्म के
संघर्षण–सुख हैं म्रियमाण ।

पतन एक दिन अस्थि माँस का
मरण देह का निश्चित धर्म
रोक न पायेगा विपत्ति यह
कोई दैहिक सुखकर कर्म ।

केवल तुष्टि प्रदान करेगा
जगत्तत्व का अनुशीलन
सुख है केवल अनाशक्ति
जब दूर वासना के वन्धन ।

सुख है केवल त्याग भोग का
सुख है देह सुखों से दूर
सुख है आत्म विलय,
जीवन भर जाये जगती में भरपूर।

सुख है जब निर्लिप्त भाव से
विधि प्रपंच को देख सकें
सुख है जब दुर्बल मन का
साहस से कर प्रतिरोध सकें ।

सुख है जब निजता परता का
पड़े न किञ्चित भी आभास
सुख है जब सुख दुख न दे सकें
इस जीवन के सृजन विनाश ।

सुख हैं जग के विजय पराजय
कर न सकें मन को संस्पर्श
सुख है जव उद्वेग न भर पायें
मानस के हर्ष अमर्ष ।

सुख है आशा का अभाव
सुख है विराग का शीतल वेग
सुख है सत्य वही, जब मन में
उठ न सके कोई आवेग।

सुख दुःख हैं दो भाव जगत् के
लोक मान्यता से संश्लिष्ट
दोनों हैं अनित्य, अस्थिर हैं
कोई भी है नहीं विशिष्ट ।

दिति पुत्रों के छद्म घात
मेरे जीवन पर होने दो
उन्हें स्वयं का यश वैभव
सम्मान प्रतिष्ठा खोने दो ।

उनका निश्चित हुआ पराभव
मेरे उद्योगों द्वारा
मेरे तन का नाश बनेगा
उनका दाहक अंगारा ।

जिस नृप की धरती पर
जन का रक्त विन्दु गिर जाता है
उसके सर्वनाश करने को
वही गरल बन जाता है ।

आदितेय हम अजर अमर हैं
स्थूल देह का नाश न चिन्त्य
गतिमय चक्राकार विश्व के
दैहिक जीवन मरण अनित्य ।

देह नाश कर देने से,
क्या शत्रु कभी मर जाते हैं ?
अत्याचारों के विरोध
क्या वध से रोके जाते हैं ?

जन्म धरा के हेतु समर्पित
इस शरीर का कण कण है
वर्बरता के चिर विरोध में
सफल देह का पोषण है ।"

जाना भृगु पुत्री ने मन में
कच का होगा जीवन नाश
समय आ गया संजीवन का
होगा उनमें तत्व प्रकाश ।

मन में किञ्चित खिन्न भाव ले
लौट गई निज पितृ समीप
चन्द्र किरण की तरल प्रभा में
नभ के जलने लगे प्रदीप ।

बोले भृगु "हे पुत्रि तुम्हें,
क्या अन्तर में कोई दुख है ?
उदासीन सा क्यों आनन है
मलिन तुम्हारा क्यों मुख है ?

तुम हो इस आश्रम की सरिता
बहती भर कर मन:प्रसाद
मेरा रहा प्रयत्न कि तुमको
स्पर्श न कर पाये अवसाद ।

आश्रम में क्या कोई तुमसे
हुआ पुत्रिके ! है अविनीत
क्या शर्मिष्ठा सीख गई है
तुमसे अधिक देव संगीत ?

क्या कच ने कुछ देव दर्प में
निन्दा किया यहाँ की है ?
क्यों उद्विग्न मना बैठी हो
कैसी उन्मन झाँकी है ।

असुरों का उन्माद बढ़ा है
अब असह्य है उनका मोह
वास त्याग दूँ असुर-पुरी का
नहीं करूंगा ऊहापोह ।

भर कर लज्जा वाणी में
संकुचित देवयानी बोली
आत्म कुण्ठिता, पितृ-पोषिता
आश्रम की रानी बोली ।

"वैभव है हे तात तुम्हारा
व्याप्त पुरी के जन जन में
चिन्ता केवल कच के हित की
छाई है मेरे मन में ।

अहित हुआ कच के जीवन का
आश्रम का सम्मान गया
न्याय-प्रियता का, आश्रम के
जन जन का अभिमान गया ।

कच का जीवन हरण,
देखती हूँ जैसे फिर भावी है
देव दानवों का संगर अब
फिर से निश्चित भावी है ।

भार्गव अपनी मन्द-स्मिति से
कर के पुत्री का परितोष
बोले "जो है भाव्य उसी में
करना है सब को संतोष ।

तुम हो मेरी अमर वल्लरी
मेरे नयनों की आशा
तुम्हें देखकर मलिन
मुझे होती है आतुर जिज्ञासा ।

कभी नहीं है मरण शोच्य
वह आत्मा का है वन्धन मोक्ष
देह रूप कुत्सित कारा से
परम–शक्ति का शाश्वत मोक्ष ।

मरण साध्य है जीव लोक का
साधन हैं सब करण वितान
विघटन घट का है श्रेयस्कर
त्रस्त जीव को मिलता त्राण ।

मिल जाता फिर महत्ततत्व में
जो है सब में सब क्षण व्याप्त
दैहिक जीवन के संकट सब
हो जाते सर्वथा समाप्त ।

मरण वरण है महा सौख्य का
ताप–त्रय का नैत्यिक नाश
देह एक सीढ़ी है जिसपर
चढ़ कर आत्मा करे प्रकाश ।

चिन्ताकुल होना प्राणी का
लक्षित करता है अज्ञान
पड़ सकता है नहीं कभी
भावी में कोई भी व्यवधान ।

दु:खों का कारण है केवल
एक मात्र मन की आसक्ति
जलती चिता कामनाओं की
अश्रुमुखी रहती अनुरक्ति ।

जिनको मान प्रतिष्ठा प्रिय है
जिनका है मर्यादा धन
उनको प्रकट नहीं कर पाते
अन्तरतम के जलते व्रण ।

अन्तर की अभिव्यक्ति निन्द्य है
आत्म पतन है आत्म प्रकाश
वे विजयी हैं वे महान् हैं
जिन्हें गोप्यता का अभ्यास ।

चिन्ता और निराशा का
इस आश्रम में है क्षेत्र नहीं
पुत्रि तुम्हारी दुश्चिन्ता
मुझको किञ्चित अभिप्रेत नहीं ।

दया क्षमा दाक्षिण्य मृदुलता
स्त्रैण भाव जितने नर में
उनका मूर्त रूप पुत्री है
स्नेह सुधा सी अन्तर में ।

तुम्हें देखना चिर प्रसन्न
मेरे जीवन का है आनन्द
जावो छोड़ खिन्नता मन की
रहो सदा सब दिन सानन्द ।"



सिद्धि

(५)

एक दिवस कच घूम रहे थे
वन में, हो चिन्ता से मुक्त
खोज रहे थे पत्र पुष्प
मन में उमगा था राग प्रसुप्त ।

तर्क देवयानी के, मन में
खोज रहे थे अपना स्थान
मन के ऊपर भार पड़ा था
स्नेह कर रहा था आह्वान ।

जीवन भर के तर्क सभी
रह रह कर बिखरे जाते थे
प्रणय वेग के वश में
अन्तर के स्वर उमड़े आते थे ।

उठता था अभिमान नरोचित
और विकलता बढ़ती थी
स्नेह–मृदुलता मनस्तरलता
प्रति पल अधिक उमड़ती थी ।

आतुरता छाई थी उर में
सुरयानी के दर्शन की
वायु भर रही थी चेतनता
मानस में आकर्षण की ।

संयत होकर अन्तराल में
किया शिथिल रागात्मक भाव
क्षण भर में ही नष्ट हो गये
सारे भौतिक कलुष प्रभाव ।

उदित हुई वैराग्य रश्मियाँ
तम के काले पर्दे भेद
मन के इस संघर्षण में
भर आया भ्रू मस्तक पर स्वेद ।

विजय हुई अंतिम विचार की
हुई पराजित भावुकता
हार हार कर हुई विजयिनी
युग युग से नर की नरता ।

सहसा गूँज उठे स्वर सम्मुख
"अवसर है अति काल न हो
नाश करो रिपु के कण कण को
सफल शक्र की चाल न हो ।

कहा निकट हो 'स्वर्ण केश' ने
कच अब जीवन जाता है
देवों का उपकार करो तुम
इन्द्र तुम्हारा त्राता है ।

भूल गये तुम नीति सृष्टि की
उपकारी है मूर्ख महान्
उसका मिटता अस्तित्व जगत् में
उपकृत बनते राज्य–प्रधान ।

किसी वीर भावुक के शव पर
चढ़कर कोई पहने क्षत्र
कोई करता राज्य, किसी के
भूखों मरते पुत्र कलत्र ।

अत: छोड़ कर संजीवन की
जिज्ञासा प्रस्थान करो ।
देवों के हित की चिन्ता में
मत अपना बलिदान करो ।

सुस्थिर होकर शान्त भाव से
बोले कच गम्भीर मना
महा प्रकम्पन के झोंकों में
देव दारु ज्यों रहे तना ।

"मुझे साध्य से हटा नहीं
सकता जीवन विनाश का भय
कभी सफल क्या हुए जगत् में
बर्बरता आतंक अनय ?

गल जाता जब बीज धरा में
तभी नवाँकुर उगते हैं
शोणित सिंचन से वैभव के
अरुण कमल दल खिलते हैं ।

नश्वर है भौतिक शरीर
जन हित में यदि लग जायेगा
जन मानस में अमित काल तक
अविनश्वर हो जायेगा ।

बहु जन हित के लिये
जिन्हें अपने प्राणों की भीति नहीं
उसे भुला दे वन कृतघ्न
यह जन मानस की रीति नहीं ।

वरण मरण का जो करते हैं
लड़ते अत्याचारों से
होता है श्रृङ्गार उन्हीं का
तरल निशित असि धारों से ।

वर्वरता के सम्मुख जो जन
नहीं समर्पण करते हैं
उनकी स्मृति में वीर सदा
शोणित का तर्पण करते हैं ।

जो हैं सबके प्रति समान
जिनमें अपरों से द्रोह नहीं
जो हैं सात्विक शुद्ध बुद्ध
जिनके मन में व्यामोह नहीं ।

उनको बाँध सके क्या जग के
भय प्रमाद विध्वंस कभी ?
कर सकता है मरण न उनके
यशो देह का स्पर्श कभी ।"

आकस्मिक आघात पृष्ठ से
हुआ कई शूलों का साथ
रक्त सिक्त हो गया देह
गिर गये धरा पर व्यथित अनाथ ।

चले खड्ग निर्दय कृपाण,
लघु भागों में काटा था देह
अग्नि दाह कर क्षार कर दिया
क्षार रचित प्राणों का गेह ।

चूर्ण बना संमिश्रित करके
मदिरा में कच का कणकण
पिला दिया आचार्य शुक्र को
देव शिष्य का भस्मित तन ।

होकर परम प्रसन्न चित्त में
दानव करते नर्तन गीत
कच की अनुपस्थित से
मन में हुई भार्गवी महा सभीत ।

भार्गव बैठे थे प्रसन्न
मदिरा का बढ़ता था आवेग
खिन्न मना देखा पुत्री को
बोले भर कर स्नेहोद्वेग ।

उत्सव है यह दैत्यपुरी का
यहाँ खिन्नता का क्या मूल
पुत्रि ! तुम्हारे मन में कोई
खटक रहा क्या कोई शूल ।

तुम्हें नमन करते किन्नर
सुर असुर यक्ष अश्विनीकुमार
तुम्हें नहीं शोभा देता है
किञ्चित् भी विषण्ण आकार ।

यह कैसा अवसाद ! यहाँ
वेदना दु:ख गल जाते हैं
मदिरा की प्रत्येक बूंद में
शोक लोक बह जाते है ।

रुदन लिये स्वर की लहरी मे
विनत भरे ब्रीड़ा का भार ।
प्राण प्रणय संश्लिष्ट–
लिये, नारी के जीवन का आधार ।

कहा "मरण फिर से होता है
कच की अनुपस्थिति से ज्ञात
मेरा है दुर्भाग्य अरे !
दुर्वह मेरा जीवन है तात ।

जीवन देव–पुत्र का मेरे
प्राणों का है एकाधार
नहीं वहन कर सकते, मेरे–
दुर्बल प्राण विरह का भार ।

मरण श्रेष्ठ है मुझे विरह से
उसकी तिल तिल जलती आग
दाहक है कितना अन्तर में
विरह–कुपित संभृत अनुराग ।

ज्योति छिपी जो स्नेह दीप की
ज्वाला वन लहराई है
विरह–व्याध वाधित हरिणी को
दावानल सी छाई है ।

महा प्रलय की वर्षा लेकर
अश्रु उमड़ते आते हैं
जीवन के व्यापार सभी
जड़ होकर मिटते जाते हैं ।

अश्रुमुखी तारिका गगन की
व्रण सम नक्षत्रों के स्थान
झझा के आघात प्रति-क्षण
रुदन कर रहा वायु वितान ।

व्यथित मलिन आहें संसृति की
छाई बनकर ज्योत्स्ना राग ।
उच्चाटन का पटल खुला था
निशा बजाती विरह विहाग ।

जीवन जीने योग्य तभी तक
जब तक है प्रिय का संयोग
प्रिय वियुक्त जीवन जड़तामय
देह महाभूतों का भोग ।

देख दीनता निज तनुजा की
दया द्रवित बोले आचार्य
पुत्रि ! न ऐसे कार्य जगत् में
पुनः पुनः होते व्यवहार्य ।

कच सच्चा अन्तेवासी है
अतिथि हमारे पुरजन का
देव पुरी में चिर वाञ्छित वह
मूल्य अधिक उसके तन का ।

प्रिय है पुत्रि ! तुम्हें वह इससे
देदूंगा फिर जीवन दान
मुझे देव दानव दोनों ही
श्रेय प्रेय हैं एक समान ।

कोई नहीं स्वार्थ विरहित है
कोई नहीं प्रयोजन हीन
अतः सभी मेरे मानस में
अति दयनीय अत्यधिक दीन ।

यही स्वार्थ हैं मूल कि जिनसे
फलते घृणित मनो मालिन्य ।
जो रक्षित हैं इन भावों से
वह हैं सर्प सृष्टि मूर्धन्य ।

नयन वन्द हो गये अवस्थित–
हुये, ध्यान में सहसा शान्त
दिव्य ज्योति छाई आनन में
स्फुरित हो उठा नेत्र–प्रान्त ।

भंग हो गया चिन्तन भृगु का
कान्ति हुई सर्वथा मलीन
स्फूर्ति ओज मन की प्रसन्नता
दया भाव हो गये विलीन ।

ग्लानि पूर्ण हो गया चित्त
अन्तर में छाया क्लेश महान्
क्षण भर को उद्विग्न हुये
बोले फिर सह मन के व्यवधान ।

"मेरे आमानल में जलते
शिष्य ! सुनो मेरा संदेश
समय निकट है मंत्र सिद्धि का
लो संजीवन का उपदेश ।

ग्रहण करो यह महा मंत्र
संसृति का जो है आदिम तत्व
अहंकार से प्रेरित होकर
भूत दे रहे तुमको सत्व

देव श्रेष्ठ ! हे शिष्य यहाँ पर
नाश नहीं जीवन है सत्य
परिवर्त्तन स्वरूप का होता
यही मृत्यु का एक रहस्य ।

जीव व्याप्त शाश्वत अनादि है
उसका जीवन मरण अनित्य
जन्म मृत्यु पर हर्ष शोक का
अतः न किञ्चित् भी औचित्य ।

देह पंच भूतों का, नियमित–
मात्रा में है संयोजन
जीव आनुषंगिक विग्रह में
यही प्रकृति का आयोजन ।

जीवन का अस्तित्व
पंच भूतों का ही है मात्राक्रम
जीवन का दर्शनाभाव
परिमित मात्रा का दुरतिक्रम ।

पंच भूत का मित संव्यूहन–
जीवन का रहस्यमय भाव
उसका रंच विपर्यय जीवन–
का शरीर से प्रकट अभाव ।

जीवन कोई शक्ति भिन्न है
वह कुछ संश्लेषों की कान्ति
उस पर जन्म मरण कर्मों का
आरोपण है केवल भ्रान्ति ।

त्रिगुणात्मक प्राकृत वाधा से
वाधित कभी न उसका ज्ञान
जीव निरञ्जन ही रहता है
अनायास सवकाल समान ।

कभी पृथक्त्व नहीं होता है
जीव न होते भिन्न अनेक
किसी देह के लिये जीव का
निश्चित नहीं कभी उद्रेक ।

घटाकाश की भाँति जीव है
अनायास घट में अवरुद्ध
घट के विघटन हो जाने पर
वह सदैव रहता परिशुद्ध ।

उसके अन्तर्गत शरीर है
वह न देह का अनुयायी
कर्म धर्म गमनागमनों के–
प्रति न कभी उत्तरदायी ।

मनोजात आसक्ति वासना
सुख दु:खेच्छा राग विराग
उत्क्षेपण आकुञ्चनादि
सापेक्ष्य भावनाओं का त्याग ।

यही इष्ट है शुद्ध रूप के–
लिये इसी का चिन्तन हो
जन निःश्रेयस श्रेष्ठ भाव से
मनो भूमि का सिंचन हो ।

आविर्भाव देह का होगा
करके मेरा भिन्न उदर
नष्ट न तुमको कर पायेगा
फिर से कोई रात्रिञ्चर ।

इसी मंत्रणा से फिर मुझको
देना सत्वर जीवनदेह
अमर रहेगा चिर संसृति में
जान मोह का संतत स्नेह ।"

"स्वीकृत है गुरुदेव ! जठर के
महाज्वाल से त्राण करो ।
गुरु की पावन परम्परा का
यह उत्कृष्ट प्रमाण करो ।"

सुनकर आर्त विनम्र प्रार्थना
भृगु ने किया मंत्र संधान
आकर्षित हो गये भूत
मिल गये परस्पर पंच–प्राण ।

उदर विदीर्ण हुआ भार्गव का
कच का आविर्भाव हुआ
विश्व मंच पर अमर चिरंतन
गुरु का प्रकट प्रभाव हुआ ।

स्वानुभूति, परिपुष्ट साधना से
करके जो देते हैं
अन्धकार अज्ञान जन्य
शिष्यों का जो हर लेते हैं ।

जो तृणवत् उत्सर्ग देह का
कर देते विज्ञान निमित्त
जो संसृति को नवल ज्ञान की
धारा से करते अभिसिक्त ।

जिनका है बलिदान
ज्ञान–वेदी पर जन–निःश्रेयस हेतु
जिनकी वाणी से बनते हैं
संसृति सागर के नव–सेतु ।

जिनका अहंभाव सोता है
अक्षर के सौरभ से मुग्ध
जिनकी उपकारी प्रवृत्ति को
विषय नहीं कर पाते क्षुब्ध ।

जिनका है उद्देश्य जगत् में
द्वेष्य भाव का संकोचन
प्राणि मात्र का, भय विषाद
चिन्ता से जो करते मोचन ।

जिनका है विश्वास अखण्डित
प्राणी की सहृदयता में
ले समता का सिद्ध योग
जो रहते हैं निर्भयता में ।

जो हैं स्वयं प्रकाशित विषयों–
से विमुक्त जो स्वात्माराम
जिनका, अनुकम्पा से प्रेरित
चलता ज्ञानयज्ञ निष्काम ।

ऐसे गुरु ब्रह्म स्वरूप
उनके अक्षरमय साधन हैं
उनके चरणों पर जगती के
मुहुर्मुहुः अभिवादन हैं ।

उनके चरणों पर जन जन के
अर्पित हैं श्रद्धामय प्राण
उनके शुद्ध वुद्ध जीवन पर
मानवता को है अभिमान ।

उनकी सुधामयी वाणी में
तप्त–जीव पाते विश्राम
उनके बलिदानों पर अर्पित
वसुन्धरा के कोटि प्रणाम ।



ग्लानि

(६)

शान्त था आश्रम प्रकृति विश्रान्त थी
भर रही औदास्य की अतिरेकता
क्षुब्ध थे आचार्य मन में क्लान्त थे
प्रकट मुख से थी वरेण्य विवेकता ।

राज्य था सुविशाल दैत्यों का वहाँ
आसुरी सुख–दृप्त झंझा डोलती
प्राप्त कर आतृप्ति रम्भा वारुणी
युद्ध की लिप्सा मदोद्धत बोलती ।

व्याप्त था अभिमान सबमें देह का
तीव्र जन जन में विनाशक वृत्ति थी
नित्य नूतन युद्ध केवल चिन्त्य था
शत्रु के ऊपर सभी की दृष्टि थी ।

पंच वर्ग त्रिवर्ग अरि के नाश हित
साम दाम विभेद दंड विष प्रयोग
अग्नि दाहादिक विरच षड्योजना
असुर फैलाते सुरों में दुष्ट योग ।

आक्रमण के हेतु नय पथ से पृथक्
नीति जन्य सुषुप्ति से आश्वस्त कर
व्याध की सी कपट निद्रा ले कभी
टूट पड़ते असुर अमरावती पर ।

युद्ध से थीं नित्य जागृत इन्द्रियां
जय पराजय के न हर्ष विषाद थे
समर रचने के लिये अरि से वहाँ
उचित अनुचित के न वाद विवाद थे।

जो नहीं वात्सल्य रस से विज्ञ है
जो न प्रेमासक्ति सुख को जानते
ध्येय जीवन का मनः संतुष्टि है
जो नहीं इस तथ्य को पहचानते।

जो नहीं आराधते मृदु वृत्तियाँ
जो नहीं अन्तर रमण अनुभव किये
श्वास में बजते न स्वर सौहार्द के
जी रहे वह देह में निज शव लिये।

जो न भौतिक कामनाओं से परे
सोचते कल्याण जीवों का कभी
वे महास्वार्थाभिभूत, सतृष्ण हो
ध्वंस करते सृष्टि की रचना सभी।

दानवों की देख लिप्सा युद्ध की
नित्य के वर्वर जनोत्पीडक कुकृत्य
क्षुब्ध थे आचार्य मन में क्रुद्ध थे
एक दिन कहने लगे अस्वाद्य तथ्य।

"मघवा से हो परम उपेक्षित
आया दैत्यपुरी में
मिला मुझे सब कुछ श्रद्धा
सम्मान सहित नगरी में।

आत्म तुष्टि भी मिली देख कर
सुरपति का मद मंथन
शीतल हुआ हृदय सुनकर
अमरों का करुणा—क्रन्दन ।

जलती थी अन्तर ज्वाला
ले कदर्थना का इन्धन
शान्त हुई अब देख—
देख निर्जर वधुओं का वंधन ।

किन्तु एक अवसाद भर गया
देख यहाँ की माया
निन्दा से भर गये प्राण
जल उठी घृणा से काया ।

हे दिति वंशज ! हे सुरारि !
हे रात्रिञ्चर ! हे असृप !
भोगासक्ति सदा निन्दित है
वन्दित सदा रहा तप ।

दुष्टों के दमनार्थ शक्ति की
सदा अपेक्षा होती
आततायियों के बध में
समुचित वर्वरता होती ।

अभिप्रेत है नैतिक बल
दुष्टों के संहारण में
जनमत का बल रहा अपेक्षित
विजय के लिये रण में ।

पाकर लोक मनोबल केवल
विजय हुई चिर स्थायी
पाकर लोक मनोवल
अन्यायी कहलाता न्यायी ।

जनमत के बल पर देता है
प्राणदंड अधिकारी
उसे नहीं जन हत्या का
अपराध हुआ भयकारी ।

जिनकी पृष्ठ नहीं पोषित है
जनमत की साँसों ।
जिनके कार्य नहीं अनुमोदित
लौकिक विश्वासों से ।

वे अभिमानी आत्म विनाशक
विजय लिये निज कर मे
गर्भ रूप में अश्वतरी
ज्यों मरण लिये अन्तर में ।

मैंने संजीवन विद्या का
कच को पात्र चुना था
मेरा वह अन्ते-वासी है
तुमने इसे सुना था ।

किन्तु स्वार्थ वश भूल गये तुम
कर्तव्याकर्तव्य
फिर भी होता नहीं यहाँ पर
कर्मों से भवितव्य ।

तुमने कच्च के ऊपर
मारक घात किये थे छिपकर
कण कण उसका नष्ट कर दिया
मायावी छल बल कर ।

मैंने अपनी मंत्र शक्ति से
दिया उसे जीवन है
मेरा तपश्चरण मुझको
मेरा सर्वोत्तम धन है ।

मुझे चाहिये नहीं राज्य के–
संरक्षण, सुख–साधन
कभी नहीं आकृष्ट कर सके
सुख वैभव मेरा मन ।

मैं स्वतन्त्र सत्ता का भोगी
मेरा 'अहं' वृहत्तम
मेरे मानस में सदैव
जन का हित रहा महत्तम ।

मानस है नवनीतोपम
पाकर कवोष्ण दुष्कृत्य
गल जाता है ग्लानियुक्त हो
सहकर अनय कुकृत्य ।

ज्ञात रहा तुम सबको
कच मेरा अन्ते–वासी है
आश्रम में रह कर 'वह'
संजीवन का अभिलाषी है ।

करके तिरस्कार मेरा
मेरा सौहार्द भुलाकर
हत्या की दो बार, और
इस बार सदेह जलाकर ।

सुरापान के साथ पिलाया
मुझे क्षार हा शव की
हुई पराजय यहाँ अरे !
मेरे अगाध अनुभव की ।

जलता है मानस मेरा
उपहास हुआ संसृति में
डूब गया व्यक्तित्व अरे !
असुरों से इस अपकृति में ।

सुरापान से हुआ महा अपमान
प्राण पीड़ित हैं
आत्म भर्त्सना से मेरे
दुर्भेद्य नयन मीलित हैं ।

यशोध्वंसिनी मदिरा से
सदुबुद्धि विकल हो जाती
जीवन भर की सात्विकता
क्षण में असफल हो जाती ।

तपः साधना का विनाश
मदिरा की प्रथम लहर है
मदिरा का आवेग
प्रलय रजनी का प्रथम प्रहर है ।

सुरा साधना गर्ह्य,
अनैसर्गिक, शरीर की याञ्चा
कीर्तिध्वजा के साथ
व्यक्ति की महा मरण की वाञ्छा।

करके उत्तेजित कुछ क्षण
शारीरिक इद्रिय गण को
आमन्त्रित करती है मदिरा
सर्वाङ्गीण मरण को।

मेधा से प्रतिभा को–
मंथर–गति से ह्रास कराती
महारोग से ग्रसित कलेवर
करके त्रास दिखाती।

इसके वश में हुआ कि जीवन
का यश सौख्य गंवाया
इसका सेवन किया कि बस
हो गई निरोजस् काया।

इसे करूँगा शप्त आज से
जीवन गाथा देकर
करता हूँ निषिद्ध जन को–
अपनी मर्यादा लेकर।

देव पुत्र जो ब्रह्मपुत्र हैं
उनकी करके होली
मदिरा के द्रव में फिर सम्यक्
कच की शव रज घोली।

अतः सुरा में ब्रह्मपुत्र
विष का प्रभाव हो जाये
सुरा सेवियों के तन–मन
पर रुग्णभाव छा जाये ।

पानक पर छा जाये अब से
ब्रह्मघात का पातक
उसकी संतति परम्परा का
होगा वह संघातक ।

महा काम का वेग उसे
कर्मों से च्युत कर देगा
अनुजा तनुजा का विवेक
अन्तर–तम से हर लेगा ।

यह है मेरा शाप सुरा को
युग युग तक चिरस्थायी
सुख संपति यश से वञ्चित
हो जाये मदिरापायी ।"

भृगु के भय से आतंकित
पश्चात्ताप से आकुल
भावी की संगर चिन्ता से
चिन्तित था दानव कुल ।

दैत्यराज वृषपर्वा तव
भार्गव से साञ्जलि बोले
वाणी में माधुर्य लिये
अन्तर के छल पट खोले ।

"हे प्रकाश के पुञ्ज !
वियन्मण्डल के स्वेच्छारी !
दानव कुल के परम पूज्य
हे जननि: श्रेयस् कारी ।

कच आये थे दैत्यपुरी में
लेकर एक दुरिच्छा
उनका था उद्देश्य एक
केवल संजीवन शिक्षा ।

भृगुकुल के औदार्य भाव से
अनुचित लाभ उठाना
देवों का मन्तव्य रहा
जीवन रहस्य पा जाना ।

किसी भाँति दनुजों से
समता करने को संगर में
महा दुरीप्सित लेकर कच
आये थे असुर नगर में ।

भूपति का कर्तव्य कठिन
उसका दायित्व बड़ा है
भावुकतामय आदर्शों से
उसका कार्य कड़ा है ।

वैयक्तिक भावना नहीं
छू पाती है नरपति को
जन हित ही प्रेरित करता
सर्वदा जनेश्वर मति को ।

भूपति को निज राष्ट्र
प्रतिष्ठा सर्वाधिक जीवन में,
जन जन के पोषण रक्षण का
चिन्तन करता मन में ।

जन हित के जो अन्तराय है
द्रोही हैं शासन के,
वे सुपात्र हैं क्रूर मरण के
भू से परिमार्जन के ।

शत्रु नाश के लिये जनेश्वर
अति सचेत होता है ।
वह जागृत रहता है तब जब
जन समूह सोता है ।

लाभालाभ–विवेक बुद्धि
उसमें होती नैसर्गिक
उसका दृष्टिकोण होता है
चिर तथ्यात्मक भौतिक ।

तथ्य हीन आदर्शों का
वह मोह नहीं करता है
तथ्यों की कठोर धरती पर
वह विचरण करता है।

रिपु हो अथवा पुत्र
राज्य–द्रोही का वध निश्चित है
नृप का हित उसमें ही है
जिसमें जनता का हित है ।

जिसे नहीं नृप का भय किञ्चित
जो जन पीड़ाकारी
उसके प्रति सर्वथा न्याय्य
है महादण्ड भयकारी ।

जनपति का आतंक सदा
सब में व्यापक रहता है,
सर्वव्यापी सर्वकाल
भूपाल सदा रहता है ।

देवों का रण में हित करना
कच का चिर — काञ्छित था,
उनका वध असुरों का हित था
शासन का वाञ्छित था ।

असुरों का दुर्भाग्य
देव सुत पर श्रीमान् द्रवित थे,
कच के पुनः पुनः वध से
असुरों पर अधिक कुपित थे ।

जिनकी कृपा अनुग्रह से—
दिति पुत्रों का है वैभव,
उनसे होकर दुर्विनीत
रहना कैसे है संभव ।

दैत्यों का मन्तव्य एक था—
रक्षा संजीवन की,
अपने वैभव के हित जाग्रत
चिन्ता अपने धन की ।

मैं हूं सबका उत्तरदायी
मैंने क्लेश दिया है
दिति पुत्रों के रक्षणार्थ
सब कार्याकार्य किया है ।

अर्पित हैं मेरे शत शत–
श्री चरणों पर अभिवादन
होकर परम प्रसन्न करो
स्वीकृत मेरे आराधन ।

व्यक्ति व्यक्ति में अर्थ कामना
लिये हृदय सोता है
उसकी अन्धी कार्य–प्रेरणा से–
अकार्य होता है ।

जन जन में है यशस्कामना
मलिन वासनायें हैं
ईर्ष्या स्पर्धा से समिश्रित
सूक्ष्म एषणायें है ।

अतः क्षमा होवे जो कुछ भी
अनुचित हुआ यहाँ पर,
मेघों के जल वर्षण से
क्या क्षुब्ध हुआ रत्नाकर ।

शान्त हो गया क्रोध
देख कर दैत्यराज का वन्दन
बोले कच से नीति युक्त
वाणी में फिर भृगुनन्दन ।

ममता का पोषण शरीर में
अहंभाव भरता है,
जन जन में संघर्ष भावना को
प्रेरित करता है ।

युद्ध शान्ति के बीच "अहं" ही
एक मात्र है वाधक,
शान्ति रमण करती उनमें
जो निरहन्ता के साधक ।

एक बड़ी लम्बी सीमा तक
जनता पीड़ा सहती
युद्ध वर्ज़्य है तब तक,
जब तक जन सहिष्णुता रहती ।

वर्वरता क्रूरता तथा आतंक
कभी मत रोको,
अन्यायी के दंड हेतु
मत शीघ्र मार्ग अवलोको ।

अत्याचारों को सीमा तक
बढ़ने दो निर्वाध
महा क्रान्ति के स्वागतार्थ
सहने दो कष्ट अगाध ।

जन पद के सुख शान्ति हेतु
संघर्ष सहे जाते हैं
सहिष्णुता की सीमा तक
संगर रोके जाते है ।

निन्द्य आततायी बर्बर है
निन्द्य कापुरुष भी है,
निन्द्य दलित पीड़ित समाज के
निन्द्य सत्पुरुष भी है ।

उत्पीड़न से युक्त शान्ति का
रण ही एक साध्य है,
संगर के पश्चात्, शान्ति स्वयंमेव
सुगम सुप्राप्य है ।

महा समर का आराधन
सर्वदा वीर करते हैं,
आततायियों से हठात्
योद्धा सम्मुख लड़ते हैं ।

युद्ध महाकाङ्क्षा नर की
जीवन का नव संबल है,
युद्ध जगत् की गमन प्रेरणा
निर्बलता का बल है ।

युद्ध नाश है युद्ध सृष्टि है
युद्ध पराजय जय है,
युद्ध शान्ति है युद्ध क्रान्ति है
युद्ध सभय निर्भय है ।

अतः विवेक बुद्धि से
अन्तर्वाह्य युद्ध में रत हो,
कार्याकार्य विचार हेतु
निज अन्तर में सहमत हो ।

किन्कर्तव्य विमूढ़ सदा
सहता निन्दा अपगति है,
श्रेष्ठ व्यक्ति वे ही हैं
जिन में प्रत्युत्पन्नामति है।

घृणा क्रोध कुविचार जनक हैं
इन्हें नहीं अवसर दो,
सब के प्रति औदार्य भावना से
जगती को भर दो।

लघु महान का भेद मिटा दो
बहे ज्ञान समता का,
सब अपने हैं अपर नहीं
उन्मूलन हो ममता का।

निरभिमान हो स्वाभिमान की
रक्षा करना जानों,
गुरुजन की भावना सुरक्षित
रखने में रति मानो।

अकरणीय करने से
श्रेयस्कर निश्चेष्ट भाव है,
आत्मा का अभिमत
कर्मों का वैयक्तिक स्वभाव है।

देही का शुभ धर्म एक है
परिपृच्छा जिज्ञासा,
महा विलय के लिये
जीव की संतत ज्ञान-पिपासा।

निन्द्य आततायी वर्बर है
निन्द्य कापुरुष भी है,
निन्द्य दलित पीड़ित समाज के
निन्द्य सत्पुरुष भी है ।

उत्पीड़न से युक्त शान्ति का
रण ही एक साध्य है,
संगर के पश्चात्, शान्ति स्वयंमेव
सुगम सुप्राप्य है ।

महा समर का आराधन
सर्वदा वीर करते हैं,
आततायियों से हठात्
योद्धा सम्मुख लड़ते हैं ।

युद्ध महाकाङ्क्षा नर की
जीवन का नव संबल है,
युद्ध जगत् की गमन प्रेरणा
निर्बलता का बल है ।

युद्ध नाश है युद्ध सृष्टि है
युद्ध पराजय जय है,
युद्ध शान्ति है युद्ध क्रान्ति है
युद्ध सभय निर्भय है ।

अतः विवेक बुद्धि से
अन्तर्वाह्य युद्ध में रत हो,
कार्याकार्य विचार हेतु
निज अन्तर में सहमत हो ।

किन्कर्तव्य विमूढ़ सदा
सहता निन्दा अपगति है,
श्रेष्ठ व्यक्ति वे ही हैं
जिन में प्रत्युत्पन्नामति है ।

घृणा क्रोध कुविचार जनक हैं
इन्हें नहीं अवसर दो,
सब के प्रति औदार्य भावना से
जगती को भर दो ।

लघु महान का भेद मिटा दो
बहे ज्ञान समता का,
सब अपने हैं अपर नहीं
उन्मूलन हो ममता का ।

निरभिमान हो स्वाभिमान की
रक्षा करना जानों,
गुरुजन की भावना सुरक्षित
रखने में रति मानो ।

अकरणीय करने से
श्रेयस्कर निश्चेष्ट भाव है,
आत्मा का अभिमत
कर्मों का वैयक्तिक स्वभाव है ।

देही का शुभ धर्म एक है
परिपृच्छा जिज्ञासा,
महा विलय के लिये
जीव की संतत ज्ञान–पिपासा ।

विषयों का संस्पर्श
अनश्वर को नश्वर कर देता,
देकर मिथ्याभास कर्म का
अहंकार भर देता ।

निन्दा स्तुति उद्वेग हर्ष का
कारण बन जाते हैं,
महा मोह से यशस्कामना
के घन तन जाते हैं ।

युद्ध करो अन्तर्विषयों से
जो प्रति पल प्रति पक्षी,
जन जीवन से महोद्देश्य के
जो प्रति पल अप–कर्षी ।

पंचभूत की कारा से
सच्चित् की मुक्ति विचारो,
इन्द्रिय–जन्य वली विषयों को
अन्तर में संहारो ।

विषयासक्ति त्याग,
कर्मों का शुद्ध हेतु आश्रय लो,
सदसद् कार्याकार्य कर्म से
ऊपर का आश्रय लो ।

विधि निषेध से ऊपर उठकर
अन्त:स्वर पहचानो,
सृष्टि रूप में महत्तत्व की
व्यापकता को जानो ।

यह है अन्तर्युद्ध
विषय से दूर करे देही को,
वाह्य रूप में महा समर भी
मुक्त करे गेही को ।

मरण–तीव्रता देकर मन में
विषय नाश कर देता,
सूक्ष्म वीज वासना जगत् के
युद्ध विलय कर देता ।

योद्धा बन कर सम्मुख रण में
करो मरण आवाहन,
योद्धा बनकर अथवा
मृग–तृष्णा का करो निवारण ।

यही मार्ग दो हैं संसृति के
जिनसे संजीवन है,
जिसको पाने के हित
धरती का आकुल कण कण है ।

जावो संसृति को विस्तृत कर
यह विज्ञान सिखाओ,
अन्धन्तम–आमग्न जगत् को
ज्योतित मार्ग दिखाओ ।

जावो कच संसार तुम्हारी
गाथा अमर करेगा,
युग युग तक इतिहास तुम्हारा
तम का भार हरेगा ।

छलो नहीं छल जाने से
अपने को सतत बचाओ,
अनुमति देता हूं जाने की
देवपुरी को जाओ ।"



परावर्तन
(७)

अभिलषित अभीप्सित मन के
कब सफल कर सका कोई ?
कब उद्वेलित प्राणों में
सन्तोष भर सका कोई ?

जलती रहती जन जन में
अभिलाषाओं की होली
गुंजित रहती अन्तर में
प्यासे चातक की बोली ।

मन्दिर मन्दिर पर छाया,
नीहार विफलता का है
संगीत–स्वरों में होता
रोदन निष्फलता का है ।

संसार महा–सागर में
तृष्णा की प्रबल तरंगे
ताड़ित करती रहती हैं
असफलता भरी उमंगे ।

जन जन में मृग मरीचिका
लहराती जल–धारा सी
नर्तन करती है मन में
वृत्तियाँ दारु–दारा सी ।

छलो नहीं छल जाने से
अपने को सतत बचाओ,
अनुमति देता हूं जाने की
देवपुरी को जाओ।"



परावर्तन

(७)

अभिलषित अभीप्सित मन के
कब सफल कर सका कोई ?
कब उद्वेलित प्राणों में
सन्तोष भर सका कोई ?

जलती रहती जन जन में
अभिलाषाओं की होली
गुंजित रहती अन्तर में
प्यासे चातक की बोली ।

मन्दिर मन्दिर पर छाया,
नीहार विफलता का है
संगीत–स्वरों में होता
रोदन निष्फलता का है ।

संसार महा–सागर में
तृष्णा की प्रबल तरंगे
ताड़ित करती रहती हैं
असफलता भरी उमंगे ।

जन जन में मृग मरीचिका
लहराती जल–धारा सी
नर्तन करती है मन में
वृत्तियाँ दारु–दारा सी ।

तृण तृण जल कणिका धारे
प्रतिनिधि है परिदेवन का
कण कण का व्रण रक्तिम है
लेकर रुज रक्त-वमन का ।

नव-सुधा-धौत धामों पर
उज्ज्वलता असफलता की
रागिनी बजा करती है
अन्तर में परवशता की ।

माया परिवेष्टित मन में
कामना-स्वप्न छाया है
चिर असंतोष की झंझा,
दुर्बल मन अकुलाया है ।

प्रतिपल गर्जन करता हैं
दुर्दान्त — दुःख — कण्ठीरव
कोमल-कल्पना निरन्तर
ढोती अभिलाषा का शव ।

सुख-धाम ढहाता कोई
दुर्लङ्घित क्रूर करों से
मानस-मराल बींधें हैं
वाञ्छा के निशित शरों से ।

भृगु के आश्रम में छाई
उस क्षण से परम उदासी
जब से जाने को अनुमत
हो आये अन्तेवासी ।

मानिनी देवयानी का
जलता था रह रह अन्तर
अति — विषम — वियोग — व्यथा में
झरते थे लोचन झर झर ।

उमगी निगूढ़ पीड़ा थी
अन्तर की गहराई में
भैरवी बज रही पल पल
श्वासों की शहनाई में ।

जल मुक्ता कण झरते थे
अन्तर्ज्वाला जलती थी
प्राणों के श्लथ पलने पर
पावन पीड़ा पलती थी ।

जल रही ज्येष्ठ–उष्मा में
तिल तिल सरिता–धारा सी
संध्या के नील गगन में
उन्मन पहली तारा सी ।

अरुणिम अधरों की छाया
कम्पित थी उच्छ्वासों में
अनुराग–सुरभि वन्दी था
दु:खान्त प्रणय–पाशों में ।

शीतल मलयानिल बहता
लेकर संताप अनल का
आश्रम की रम्य धरा पर
शासन था दावानल का ।

जल रहे मनोरथ मन के
साँसों का धुँवा उड़ाये
भावी–रेखा कुण्ठित थी
उर में नैराश्य छिपाये ।

उच्छ्वासों की आँधी में
विश्वास मिटा जाता था
प्राणों के उद्वेलन में
मधु–भार लुटा जाता था ।

नारी, फिर उसमें यौवन
यौवन में प्रणय–निराशा
फिर विरह–व्यथा में जलना
लेकर प्रिय–मिलन दुराशा ।

संताप, विरह पीड़ा का
जीवन की एक कहानी
नर के स्वार्थो का तर्पण
उसके नयनों का पानी ।

सुरयानी के अन्तर में
कच का केवल चिन्तन था
भावी वियोग के भय से
मुरझाया भाव–सुमन था ।

कच ने सम्मुख प्रस्तुत हो
अर्पित की प्रणति विनत हो
मानस की दुर्वलता से
बोले अन्तः कुण्ठित हो ।

"गुरु की उदार अनुमति से
प्रस्थित हूं देवपुरी को,
देवी की अनुमति पाकर
छोड़ूंगा इस नगरी को ।

नैसर्गिक दुर्बलता से
तम से, प्रमाद से, भय से,
त्रुटियां जीवन में प्रायः
होतीं मन के अविनय से ।

मेरे आश्रम–जीवन में
जितने भी स्खलन हुये हैं,
मानस की मर्यादा से
जितने भी पतन हुये हैं ।

तामस–दुर्निवय अवज्ञा
जड़ता–संजात अहन्ता,
मेरे मृदुतम भावों की
अन्तर में रही नियन्ता ।

सब के प्रति हे करुणामयि
अब क्षमा याचना मेरी,
अब मनः प्रसाद तुम्हारा
बस एक कामना मेरी ।

तुमसे भौतिक शरीर है
अर्पित तुमको कण कण है,
भवदीया उपकारों का
छाया प्राणों पर ऋण है ।

संयोग यहां लाया था
अब जाने की वेला है
आना, चुपके से जाना
संसृति–शिशु का खेला है ।

कितनी हो शक्ति हृदय में
कितना हो दृढ़तम दर्शन
प्रस्थान समय पर सहसा
हो जाता ममतावश मन ।

अब छूट रहा है मुझसे
तव अनुकम्पा का संवल
जाने क्यों अभ्यंतर में
मन हो जाता है दुर्बल ।

जाने कैसी प्राणों में
आकुलता भरती जाती
जाने कैसी श्वाँसों में
मन्थरता बढ़ती जाती ।

गम्भीर अपरिचित पीड़ा
है हृत्प्रदेश में सोई
पलकों की मर्यादा में
आँसू की धारा गोई ।

सब असत् मोह ममता है
अनुरक्ति नितान्त मृषा है
पर अन्तर्गति देने को
प्राणों में एक तृषा है ।

हे शक्तिमयी–क्षमतामयि !
दुर्बल मानस को बल दो
अपनी प्रसाद मुद्रा से
मेरा अवसाद बदल दो ।"

करुणा कम्पित अंतर में
सहसा मलयानिल डोली
गम्भीर मनोमुद्रा में
कच से सुरयानी बोली ।

सुन कर प्रस्थान तुम्हारा
हिल गये तार अन्तर के
क्षण क्षण में गूंज रहे हैं
वह शब्द तुम्हारे स्वर के ।

नारी आई जगती पर
सम्मान–वाण सहने को
वास्तव से वञ्चित होकर
कुण्ठापमान वहने को ।

नर का मानस बन्दी हैं
जड़ता की दृढ़ कारा में
उसके विचार सीमित हैं
निज नयनों की तारा में ।

आदर्श–लता बढ़ती है
कल्पना–तरल धारा में
अभिमान–सुमन खिलते है
अन्तर के अंधियारा में ।

संयोग यहां लाया था
अब जाने की वेला है
आना, चुपके से जाना
संसृति-शिशु का खेला है ।

कितनी हो शक्ति हृदय में
कितना हो दृढ़तम दर्शन
प्रस्थान समय पर सहसा
हो जाता ममतावश मन ।

अब छूट रहा है मुझसे
तव अनुकम्पा का संबल
जाने क्यों अभ्यंतर में
मन हो जाता है दुर्बल ।

जाने कैसी प्राणों में
आकुलता भरती जाती
जाने कैसी श्वाँसों में
मन्थरता बढ़ती जाती ।

गम्भीर अपरिचित पीड़ा
है हृत्प्रदेश में सोई
पलकों की मर्यादा में
आँसू की धारा गोई ।

सब असत् मोह ममता है
अनुरक्ति नितान्त मृषा है
पर अन्तर्गति देने को
प्राणों में एक तृषा है ।

हे शक्तिमयी–क्षमतामयि !
दुर्बल मानस को बल दो
अपनी प्रसाद मुद्रा से
मेरा अवसाद बदल दो ।"

करुणा कम्पित अंतर में
सहसा मलयानिल डोली
गम्भीर मनोमुद्रा में
कच से सुरयानी बोली ।

सुन कर प्रस्थान तुम्हारा
हिल गये तार अन्तर के
क्षण क्षण में गूंज रहे हैं
वह शब्द तुम्हारे स्वर के ।

नारी आई जगती पर
सम्मान–वाण सहने को
वास्तव से वञ्चित होकर
कुण्ठापमान वहने को ।

नर का मानस बन्दी हैं
जड़ता की दृढ़ कारा में
उसके विचार सीमित हैं
निज नयनों की तारा में ।

आदर्श–लता बढ़ती है
कल्पना–तरल धारा में
अभिमान–सुमन खिलते है
अन्तर के अंधियारा में ।

हा ! विरह प्रकम्पन बहता
संस्मृति–सौदामिनि चमकी
मेरा मयंक छिपता है
छाया में अन्तर तम की ।

इस एकाकी जीवन के
आश्रय बन कर तुम आये
चिर–तप्त मरुस्थल मन को
पावस पयोद से भाये ।

उर की सूखी सरिता में
हिम जल सा भर आया था
मेरे मानस–उपवन में
मधु–ऋतु सा लहराया था ।

आगमन तुम्हारा, मेरे
जीवन में अनुपम वर था
नीरसता का वर्तन भी
कोमल से कोमलतर था ।

कामना–कौमुदी फूली, थी
शारदीय राका में
पीयूष बरसता रहता
जीवन की नव–शाका में ।

निर्भार देह था, दृग् भी
सौन्दर्य मन्त्र कीलित थे
सम्मोहन की वशता में
उन्मन हो उन्मीलित थे ।

सुन्दर था रज का कण कण
क्षण क्षण मन उन्मन होता
गहराई में अन्तर की
सर्जन–स्वर–गुञ्जन होता ।

सौभाग्य जगा जीवन का
दुर्भाग्य न यह सह पाया
फूलते धान्य के ऊपर
करका–वर्षा बन आया ।

जीवन की आशा टूटी
नैराश्य भाव छाया है
अब विरह–वज्र सहने को
मेरी दुर्बल–काया है ।

रागिनी बीच में छूटी
अब मेरी वीणा भग्ना
हरिणी दावाग्नि घिरी है
करिणी है पंक निमग्ना ।

अनुकूल रहे जो सुख में
संकट में वक्र चलेंगे
दक्षिण मारुत अब तक था
अब वात्या–चक्र चलेंगे ।

अब तक दर्शन को आकुल
होते थे दृग पल पल में
अब उर की तृषा मिटेगी
दो बूंद नयन के जल में ।

कितनी ममता सोई है
नारी के अभ्यन्तर में
कितनी करुणा सोई हैं
नारी के गर्वित स्वर में ।

आसक्ति-रूप की मन में
सर्वाधिक आकर्षण है
अभिलषित प्रतिक्षण रहता
अपने प्रिय का दर्शन है ।

नारी की दुर्बलता है
दुर्भाग्य-पूर्ण ममता में
मृदुता का भार बड़ा है
उसकी कठोर क्षमता में ।

एकान्त-निराशा में भी
क्षण क्षण नूतन आशा है
पद-तल-आहत दूर्वा में
सर्जन की अभिलाषा है ।

वह मौन पराग लुटाती
कलिका सी निर्जन वन में
उसका मधु-हास अमर है
दुःखों के दाव-दहन में ।

उसके मानस की पीड़ा
अम्बर की ताप-कथा है
उसके अन्तर की व्रीड़ा
धरती की भार व्यथा है ।

संकुचित लाजवन्ती सी
उपवन का विष पीती है,
जगती को गौरव देकर
अपमान लिये जीती है ।

दुर्भाग्य, प्रेम नारी का
असफलता जिसका फल है,
जिसकी छाया में सोया
श्वासों का ज्वार विकल है ।

जिसकी दाहक ज्वाला में
जलते हैं कलुष विषय के,
जिसके प्रकाश में मिलते
नूतन पथ महा–विलय के ।

सम्पर्क तुम्हारा उर में
अनुराग भरा करता हैं,
जीवन की मरु–धरती पर
जल–धार भरा करता है ।

जीवन अब तक दुर्वह था
अब आश्रय मिला तुम्हारा,
स्वीकार करो दुर्बल हूँ
अबला है नाम हमारा ।

यह प्रथम प्रणय अर्पित है
उसका आधार मृदुल है,
स्वीकृति तुमसे पाने को
मेरा तन मन आकुल है ।

कितनी ममता सोई है
नारी के अभ्यन्तर में
कितनी करुणा सोई हैं
नारी के गर्वित स्वर में ।

आसक्ति–रूप की मन में
सर्वाधिक आकर्षण है
अभिलषित प्रतिक्षण रहता
अपने प्रिय का दर्शन है ।

नारी की दुर्बलता है
दुर्भाग्य–पूर्ण ममता में
मृदुता का भार बड़ा है
उसकी कठोर क्षमता में ।

एकान्त–निराशा में भी
क्षण क्षण नूतन आशा है
पद–तल–आहत दूर्वा में
सर्जन की अभिलाषा है ।

वह मौन पराग लुटाती
कलिका सी निर्जन वन में
उसका मधु–हास अमर है
दुःखों के दाव–दहन में ।

उसके मानस की पीड़ा
अम्बर की ताप–कथा है
उसके अन्तर की व्रीड़ा
धरती की भार व्यथा है ।

संकुचित लाजवन्ती सी
उपवन का विष पीती है,
जगती को गौरव देकर
अपमान लिये जीती है ।

दुर्भाग्य, प्रेम नारी का
असफलता जिसका फल है,
जिसकी छाया में सोया
श्वासों का ज्वार विकल है ।

जिसकी दाहक ज्वाला में
जलते हैं कलुष विषय के,
जिसके प्रकाश में मिलते
नूतन पथ महा–विलय के ।

सम्पर्क तुम्हारा उर में
अनुराग भरा करता हैं,
जीवन की मरु–धरती पर
जल–धार भरा करता है ।

जीवन अब तक दुर्वह था
अब आश्रय मिला तुम्हारा,
स्वीकार करो दुर्बल हूँ
अबला है नाम हमारा ।

यह प्रथम प्रणय अर्पित है
उसका आधार मृदुल है,
स्वीकृति तुमसे पाने को
मेरा तन मन आकुल है ।

धर्मानुकूल कर मेरा
स्वीकार करो परिणय में,
जीवन का अर्थ सफल हो
इस जगती के अभिनय में ।

विधिवत् विषयों से पाकर
संतृप्ति तोष वैराग्य,
विकसित करके आत्मा को
पायें जीवन-सौभाग्य ।

आधार देह, देही का
उसकी सुस्थिरता बल है,
दैहिक दृढ़ता विरहित हो
आत्मा सर्वथा विकल है ।

धर्मानुप्राणित मन से
कामोपभोग वाञ्छित है,
संसृति की परम्परा का
संतान सदा काङ्क्षित है ।

वैषयिक सुखों का सेवन
आसक्ति हीन होकर हो,
परितृप्ति प्राप्त कर मन की
परमार्थ भाव दृढ़तर हो ।

परिणय के पावन पथ से
वासना विषय की भागे,
शारिरिक-भाव शिथिल हों
अध्यातम साधना जागे ।

इन्द्रियज विकार प्रबल हैं
दृढ़ तम विवेक हरते हैं,
क्या तिरस्कार करने से
वासना–बीज मरते हैं ?

तृष्णा विटपी रहती है
फूली रस रूप सुमन ले,
उसका गोपन करता है
जन जन मिथ्या दर्शन ले ।

आदर्शों के – अन्तर में
विषयों की ज्वाला जलती,
विधि में निषेध सूत्रों की
कर्तृत्व–पिपासा पलती ।

अभिवाञ्छित रहा नहीं है
आचरण धर्म का नर को,
स्वीकार नहीं करता है, वह–
पाप पुण्य के स्वर को ।

नर है निषेध, तो नारी
विधि वन उतरी संसृति में,
सत्कर्मों की प्रेरक है
वह पञ्चभूत की कृति में ।

नर–नारी कहलाते हैं
दो चक्र सृष्टि के रथ में,
संसार चला करता है
मर्यादा के सत्पथ में ।

अतएव धर्म की विधि से
करके प्रिय ! वरण हमारा,
निर्बाध चलाओ अपने
जीवन की उज्ज्वल धारा ।

सदसद् का सम्मिश्रण है
नारी नर के सर्जन में,
कण्टक भी और सुमन भी
होते हैं इस उपवन में ।

हम तुम मिल कर जगती को
नव चेतनता से भर दें,
श्रेयष्कर को जीवन से
संतत संयोजित कर दें ।

हो गई शान्त सुरयानी
नव उत्तर की आशा में,
रक्तिम अधरों पर शोभा–
छाई थी अभिलाषा में ।

कामना बोझ बोझिल थे
वक्षोज देव–बाला के,
जलते थे दीप दृगों में
नव स्नेह–मयी ज्वाला के ।

संयत हो अभ्यन्तर में
साहस का आवाहन कर,
बोले कच सुरयानी से
अवनत हो आराधन कर ।

अतएव धर्म की विधि से
करके प्रिय ! वरण हमारा,
निर्बाध चलाओ अपने
जीवन की उज्ज्वल धारा ।

सदसद् का सम्मिश्रण है
नारी नर के सर्जन में,
कण्टक भी और सुमन भी
होते हैं इस उपवन में ।

हम तुम मिल कर जगती को
नव चेतनता से भर दें,
श्रेयष्कर को जीवन से
संतत संयोजित कर दें ।

हो गई शान्त सुरयानी
नव उत्तर की आशा में,
रक्तिम अधरों पर शोभा–
छाई थी अभिलाषा में ।

कामना बोझ बोझिल थे
वक्षोज देव–बाला के,
जलते थे दीप दृगों में
नव स्नेह–मयी ज्वाला के ।

संयत हो अभ्यन्तर में
साहस का आवाहन कर,
बोले कच सुरयानी से
अवनत हो आराधन कर ।

अतएव धर्म की विधि से
करके प्रिय ! वरण हमारा,
निर्बाध चलाओ अपने
जीवन की उज्ज्वल धारा ।

सदसद् का सम्मिश्रण है
नारी नर के सर्जन में,
कण्टक भी और सुमन भी
होते हैं इस उपवन में ।

हम तुम मिल कर जगती को
नव चेतनता से भर दें,
श्रेयष्कर को जीवन से
संतत संयोजित कर दें ।

हो गई शान्त सुरयानी
नव उत्तर की आशा में,
रक्तिम अधरों पर शोभा–
छाई थी अभिलाषा में ।

कामना बोझ बोझिल थे
वक्षोज देव–बाला के,
जलते थे दीप दृगों में
नव स्नेह–मयी ज्वाला के ।

संयत हो अभ्यन्तर में
साहस का आवाहन कर,
बोले कच सुरयानी से
अवनत हो आराधन कर ।

"आया था दैत्यपुरी में
क्षण क्षण जीवन शंकित था,
दिति पुत्रों की छलना से
तव मानस आतंकित था ।

मेरे जीवन का रक्षण
प्रति पल था चिन्त्य तुम्हारा,
मेरे मन पर छाया था
नव मंजुल स्नेह तुम्हारा ।

दैत्यों के विफल हुये सब
आघात, तुम्हारे द्वारा,
तुमसे यह देह मिला है
तुमसे है जीवन धारा ।

पाकर नव-स्नेह तुम्हारा
चेतना और साहस था,
आश्रम की पावनता में
मिटता मन का कल्मष था ।

ममता थी मृदुल तुम्हारी
विज्ञान मिला जीवन का,
तव करुणा से मिश्रित है
इतिहास यहां के क्षण का ।

दुर्वह है विरह तुम्हारा
मेरा मानस निर्बल है,
संस्मरण सुरभि के झोंके
हो जाता हृदय तरल है ।

संवेदन शील हृदय में
कोमलता भर जाती है,
मेरे सूने प्राणों की
उन्मनता बढ़ जाती है ।

ममता प्रपंच है मन का
है दु:ख दायिनी जन को,
मिथ्या सुख की आशा से
भर देती है जीवन को ।

त्रिगुणात्मक जीव–जगत् में
तन्द्रा की व्यापकता है,
स्वप्निल भावों में लहरें
लेती सुख–मादकता है ।

आघात काल के पड़ते
सुख स्वप्न बिखर जाते हैं,
जीवन के रंग अनेकों
धूमिल हो ढल जाते हैं ।

कर्मों का प्रबल प्रभञ्जन
कामना क्षीण कर देता,
परका निजता में विलयन
संकल्प हीन कर देता ।

कल्पना–सूत्र अस्थिर है
लूता के तन्तु–जाल सा,
भवितव्य–करी के कर में
दुर्दलित मृणाल नाल सा ।

जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण
वैराग्य प्रखर करता है,
मन का निसर्ग में अर्पण
दृढ़ अहंभाव हरता है ।

मन बुद्धि अहं का विलयन
भूमा में जब होता है,
उस समय विषय वल्ली का
सुख–उन्मूलन होता है ।

वैयक्तिकता मिटती है
सर्व–व्यापकता बढ़ती,
त्रिभुवन में आत्म–विलय की
आनन्द–भावना बढ़ती ।

मानापमान लघु जन के
उसको न स्पर्श कर पाते,
उस आत्म रमण कर्ता को
यश गौरव नहीं लुभाते ।

लघु मनोवेग अन्तर में
गज पुट से जल जाते हैं,
उस सार्वभौम चिन्तन को
जड़ भाव न छू पाते हैं ।

इन्द्रियज विषय की झंझा
झकझोर न पाती नर को,
तरु उन्मूलन में सक्षम
क्या कम्पित करे कुधर को ?

जब तक जीवन जगती में
नव कर्म हुआ करते हैं,
पल पल जीवन की गति में
सौन्दर्य भरा करते हैं ।

समुचित विवेक से सत् को
कर पृथक् असत् से जाने,
आत्मा की स्निग्ध ज्योति में
चैतन्य रूप पहचाने ।

तज कर लम्बी दूरी में
विषयों की अस्थिरता को,
सुस्थिर हो आत्म-धरा पर
काटे मन की ममता को ।

व्याघात विषय के मन को
सन्ताप नहीं दे पाते,
उस महानंद भोगी को
अनुताप नहीं दे पाते ।

पाशविक विकार क्षणिक हैं
है अधोमुखी गति उनकी,
जो आत्म रमण करते हैं
निश्चल गति उनके मन की ।

आकर्षण है जीवन में
विषयों का राग न उनको,
दैहिकता से ऊपर हो
डरते न विषय वन्धन को ।

प्रत्येक शिरा में बहता
शोणित मेरे सत्कुल का,
जो प्रेरक है अन्तर में
दर्शन के भाव पृथुल का ।

आश्रम का धर्म उचित है
श्रेयष्कर भी है जन को,
जीवन की परम्परा में
दृढ़तम करता है मन को ।

जिनमें वंशज दृढ़ता है
जिनमें है बल संयम का,
उन पर न कभी पड़ता है
परदा विषयों के तम का ।

शारीरिकता के ऊपर
यह प्रेम अमर रहने दो,
जीवन की मरु सरिता में
पीयूष सलिल बहने दो ।

कामना विषय की जननी
दुर्बलता है जीवन की,
संताप दायिनी मन को
जलती है शिखा दहन की ।

गुरु पुत्री सहोदरा सी
है पूज्य यही मर्यादा,
इस शाश्वत परम्परा में
इतिहास न होवे बाधा ।

प्रत्येक शिरा में बहता
शोणित मेरे सत्कुल का,
जो प्रेरक है अन्तर में
दर्शन के भाव पृथुल का ।

आश्रम का धर्म उचित है
श्रेयष्कर भी है जन को,
जीवन की परम्परा में
दृढ़तम करता है मन को ।

जिनमें वंशज दृढ़ता है
जिनमें है बल संयम का,
उन पर न कभी पड़ता है
परदा विषयों के तम का ।

शारीरिकता के ऊपर
यह प्रेम अमर रहने दो,
जीवन की मरु सरिता में
पीयूष सलिल बहने दो ।

कामना विषय की जननी
दुर्बलता है जीवन की,
संताप दायिनी मन को
जलती है शिखा दहन की ।

गुरु पुत्री सहोदरा सी
है पूज्य यही मर्यादा,
इस शाश्वत परम्परा में
इतिहास न होवे बाधा ।

अक्षुण्ण रहे जगती के
शाश्वत नियमों की धारा,
यह नश्वर लौकिक जीवन
हो किल्बिष रहित हमारा ।

अब अभिप्रेत है केवल
बस कृपा–कटाक्ष तुम्हारा,
अपने अनुकम्पा स्वर से
भर दो मन में उजियारा ।

अपने मंगलमय कर से
गृह जाने की अनुमति दो,
मेरे उन्मन प्राणों को
संवल दो, धृति दो, गति दो ।

अपनी प्रसन्न मुद्रा दो
मेरे अनिष्ट कट जायें,
मेरे विज्ञान गृहण से
रण के बादल फट जायें ।

मेरी शिक्षा सार्थक हो
मिट जाये दैन्य मरण का,
संसार अमर हो जाये
हट जाये संकट रण का ।

सुख शान्ति विश्व में फैले
विद्वेष घृणा कुण्ठित हों,
जलते दाहक अंगारे
पर ईर्ष्या के लुण्ठित हों ।

विश्वास मित्रता समता
सौहार्द भावना जागे,
सामूहिक आत्ममरण की
सामरिक कुतृष्णा भागे ।

पर के इंगित पर चल कर
पर के स्वार्थों में मरना,
इस अनुचित युद्ध क्रिया में
जन जन को पड़े न लड़ना ।

निर्धनता, रोग, क्षुधा से
संसार मुक्त हो जाये,
संग्राम जन्य भीषणता
जनमन को घेर न पाये ।

संजीवन की क्षमता से
अमृतत्व प्राप्त हो जन को,
नव ज्ञान मिले संसृति को
नव ज्योति मिले दर्शन को ।

अपभय, भौतिक भावों की
भंगुरता का न उदय हो,
चिर–नश्वरता के ऊपर
अविनश्वरता की जय हो ।"

कच को सम्बोधित करके
बोली मृदु कटु सुरयानी,
हो गई हताश हृदय में
भर गई रोष से वाणी ।

विश्वास मित्रता समता
सौहार्द भावना जागे,
सामूहिक आत्ममरण की
सामरिक कुतृष्णा भागे ।

पर के इंगित पर चल कर
पर के स्वार्थों में मरना,
इस अनुचित युद्ध क्रिया में
जन जन को पड़े न लड़ना ।

निर्धनता, रोग, क्षुधा से
संसार मुक्त हो जाये,
संग्राम जन्य भीषणता
जनमन को घेर न पाये ।

संजीवन की क्षमता से
अमृतत्व प्राप्त हो जन को,
नव ज्ञान मिले संसृति को
नव ज्योति मिले दर्शन को ।

अपभय, भौतिक भावों की
भंगुरता का न उदय हो,
चिर–नश्वरता के ऊपर
अविनश्वरता की जय हो।"

कच को सम्बोधित करके
बोली मृदु कटु सुरयानी,
हो गई हताश हृदय में
भर गई रोष से वाणी ।

"अंगिरा, पिता सुरगुरु के
आचार्य पिता के भी हैं,
गुरु भ्राता, गुरु भृगु दोनों
कार्यों में एक नहीं हैं ।

इस भांति निकट आते हम
वैवाहिक बन्धन द्वारा,
मैत्री दोनों वंशों की
बरसाती मङ्गल धारा ।

दोनों अन्वय बंध जाते
इस भाँति समन्वय होता,
मिट जाता सुर असुरों का—
संगर, जन निर्भय सोता ।

आदर्श—तूलिका मन में
मिथ्याडम्बर रचती है,
कल्याणमयी जीवन की
पद्धति न तुम्हें रुचती है ।

हृत्कलिका में पराग सा
मृदु—प्रथम—प्रणय पलता है,
हा स्वप्न भंग हैं मेरे
मेरा मानस जलता है ।

है कौन समर्थ धरा पर
अपमान करे नारी का,
उसके उद्दाम प्रणय का
जगती में जय शाली का ।

यह प्रथम प्रणय, प्राणों से—
प्रिय, अपकृत हुआ हमारा,
बलवान् हृदय रमणी का
हा दुर्बल नर से हारा ।

है प्रेम ज्वलित अंगारा
यह शीतल क्षार नहीं है,
इस पर पद रख देने से
कब रक्षित शान्ति रही है ।

तव जीवन देय हमारा
इस हेतु न कुछ कहती हूं,
अपमानों की ज्वाला में
दुर्दम पीड़ा सहती हूं ।

निज अन्तर ज्वलित प्रणय का
सन्ताप न बाँटा जाता,
सिञ्चित कर अपने कर से
विष वृक्ष न काटा जाता ।

तव कीर्ति कथा जगती में
अविनश्वर हो निर्मल हो,
पर सञ्जीवन की शिक्षा
तुममें अब से निष्फल हो ।

दुर्भाग्य अरे जगती का
अमरत्व न रख पाया है,
कञ्चन-कलिका सा जीवन
नश्वरता की छाया है ।

स्वीकार कर लिया कच ने
यह शाप देवयानी का,
जैसे सज्जन सहते हैं
कटु भाषण अज्ञानी का ।

मन में न रञ्च विस्मय था
अवसाद नहीं था मुख पर,
बोले विनम्र वाणी से
सुरयानी को लक्षित कर ।

"अमरत्व मिले जगती को
इस हेतु यत्न था मेरा,
भवितव्य–बली ने तुमको
अपयश बन कर आ घेरा ।

मर्यादोचित कहता था
पर तुमने नहीं विचारा,
असफल कर दिया जगत् में
हा अध्यवसाय हमारा ।

कामना भंग होती है
तो क्रोध जन्म लेता है,
सदसद् विवेकिनी मति में
सत् का विनाश होता है ।

अपराध रहा था मेरा
पर व्यापक हानि हुई है,
इस कारण मेरे मन में
अनियन्त्रित ग्लानि हुई है ।

विषयाभिमान छाया था
मति थी सर्वथा अनय में,
कर, विप्रकुमार न कोई
तव ग्रहण करे परिणय में ।

परिवर्तन शील जगत में
विस्मरण मरण हो जाये,
जो जन निज कर्म निरत हो
अवसाद न उसे सताये ।

श्री हो, समृद्धि हो सुख हो
हो प्राप्त उसे विजयश्री,
कर्तव्य–निष्ठ यश पाये
उसकी हो सदा जयश्री ।

समाप्त



संजीवन

[illegible]

Lekhak. 1958

[illegible]